सहजानंद शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

भाग 11

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

समयसार प्रवचन

एकादशतम भाग

प्रवक्ता :—

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

सम्पादक :—

महावीरप्रसाद जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ

प्रकाशक —

खेमचन्द जैन, सर्राफ

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ

(उ० प्र०)

[संस्करण १०००]   १९६७   [मूल्य १)]

आत्म-कीर्तन

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम । ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

[१]

मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥

[२]

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥

[३]

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥

[४]

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥

[५]

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥

❀ अहिंसा परमो धर्म ❀

समयसार प्रवचन एकादशभाग

बंधाधिकारकी गत ३० गाथावोंमें यह सिद्ध किया गया है कि बंध का कारण बाह्यवस्तु अथवा बाह्य वातावरण नहीं है, किन्तु अपने आपमें जो राग द्वेष मोह विभाव होता वह बंधका कारण है। इस बातको जीवन मरण सुख दुःख आदिक कर्मोदयसे बताकर भी सिद्ध किया है। अब इसके बाद यह शंका होना साधारण जनोंको प्राकृतिक है कि क्या बाह्य पदार्थ कोई दूसरा बंधका कारण नहीं है। ऐसी शंका उपस्थित होने पर यह समाधान दिया जा रहा है कि बाह्य वस्तु दूसरी कोई बंधका कारण नहीं है इसमें रंच शंका नहीं है।

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्भवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थुदो य बंधो अज्भवसाणेण बंधोत्थि ॥२६५॥

परमार्थ, निश्चय और व्यवहार बन्ध— जीवोंके अध्यवसान पर वस्तुका आश्रय करके होते हैं। पर वस्तुसे बंध नहीं होता। बंध अध्यवसानसे ही होता है। भैया! प्रथम तो बंध यह है कि आत्माके सामान्य भावमें विशेष भावका बंधना सो यह तो वस्तुका स्वभाव है। जितने भी पदार्थ हैं उन सब पदार्थोंमें उनका परिणमन होता है और वह परिणमन अपने समयमें तादात्म्यरूपसे रहता है और बादमें विलीन हो जाता है। वह बंध तो वस्तुका प्राकृतिक तत्त्व है। अब उन ही परिणमनोंमें जो परिणमन आत्माके स्वभावके अनुरूप नहीं है, स्वभावसे विपरीत हैं ऐसे परिणमनोंका इस आत्मप्रदेशमें आना यह प्रकृत बंधन है निश्चयसे तथा इस आत्माके निश्चय बंधका निमित्त पाकर नवीन जो पौद्गलिक कर्म हैं उनका आना और बँधना यह है व्यवहारसे बंध।

पराश्रयतापूर्वक अध्यवसानका निर्माण— उस बंधके कारणभूत आत्माके जो अध्यवसान हुए हैं उन अध्यवसानोंमें ऐसा निर्माण है कि किसी न किसी पर वस्तुका विकल्प करके ही ये अध्यवसान होते हैं। किसीसे कहा जाय कि तुम राग तो करो मगर किसी पर वस्तुका ध्यान न रखो, तो किसी पर वस्तुका ध्यान किए बिना राग हो ही नहीं सकता। परवस्तुका आश्रय किए बिना राग हो जाय तो उस रागका स्वरूप क्या? क्या हुआ वहां? रागमें तो किसी वस्तु विषयक स्नेह होता है और कोई वस्तु इसने उपयोगमें ली नहीं तो राग क्या हुआ? यावन् मात्र अध्यवसान होता है, वह पर पदार्थोंका आश्रय करके होता है, इस कारण यह

भ्रम न करना कि परवस्तु ने मुझे बांधा है। परवस्तु तो मेरे बंधनमें आश्रयभूत है, बंधन तो मेरा मेरे परिणामसे है। अध्यवसान ही बंधका कारण है। बाह्यवस्तु कोई भी बंधका कारण नहीं है। बाह्य वस्तु तो बंधके कारणका कारण है।

अन्तर्बाह्य उपधिपरिहार — बंधका कारण है अध्यवसान और अध्यवसानका बाह्य हेतु है आश्रयभूत बाह्य पदार्थ। बाह्य पदार्थ तो मात्र बंधके कारणका कारण बनकर चरितार्थ हो जाते हैं अर्थात् इससे अधिक बाह्यवस्तुका और कुछ उपयोग नहीं है। रागमें बाह्यवस्तु विषयभूत हुआ। बंधका कारण तो मेरा रागभाव है। इस कारण बाह्य वस्तुका प्रतिषेध तो किया है, परन्तु चूँकि अध्यवसान होने पर बाह्यवस्तुका त्याग करके भी बाह्यविषयक परिणामोंका विकल्प है तो वहां राग तो चल सकता है, न निकट हो सामने, किन्तु ख्यालमें उपयोगमें आयेगा तो राग उत्पन्न हो सकता है। इस कारण चरणानुयोग पद्धतिसे बाह्य वस्तुवोंका तो त्याग करना ठीक ही है, पर यह भी ध्यान रखना कि मेरा अहित करने वाला मेरा राग भाव है, रागभाव मेरा स्वभाव नहीं है, वह विकृत भाव है, उससे विविक्त मेरा चैतन्यमात्र स्वभाव है। सो स्वभावका आश्रय करके रागपरिणामसे उपेक्षा करना है।

मानसिक पराश्रयताकी भी त्याज्यता — रागको अहितरूप माने तो इस जीवको चरणानुयोगकी पद्धतिसे बाह्य वस्तुका त्याग करने के बाद उसे अवसर उत्तम मिलता है। पुष्पडाल अपनी स्त्री छोड़कर चले गए, विरक्त हो गए फिर भी वियोगमें स्त्रीका चिंतन किया। तो बाह्य त्याग तो किया पर आश्रय न छूटा। बाह्य वस्तु सामने ही हो तब ही आश्रय हो, ऐसा नहीं है। बाह्यवस्तु देखी हो, सुनी हो, अनुभवकी हुई हो वे सब आश्रयभूत हो सकती हैं तो जब तक उनका शल्य नहीं गया तब तक उनके ज्ञानका उदय नहीं हुआ। जब वारिसेण मुनिराजने उपाय करके वह घटना बनायी कि अपने छोड़े हुए घर भी गए, बड़े वैभव और शृङ्गार के बीच पुष्पडाल को दिखा दिया। तब पुष्पडालकी समझमें आया— ओह! यह महापुरुष ऐसे वैभवका त्यागकर आत्मसाधना कर रहे हैं तो मैं एक कानी स्त्रीका ख्याल करके अपना साधुपन बिगाड़ रहा हूं। ज्ञानका उदय हुआ, आश्रय मिटा।

बन्धके मूल हेतुकी उपेक्षा— सो भैया! जब यह दृष्टि होती है कि बाह्य वस्तु ही मुझे बांध रही है तो बाह्य वस्तुका त्याग करके भी ज्ञानका उदय नहीं हो पाता है और जहां यह ध्यान है कि मेरा बंधन तो मेरा

स्नेहभाव है तो उसकी उपेक्षाके यत्नमें बाह्य वस्तुका भी त्याग होता है और अन्तरमें रागादिक भावोंका भी परिहार होता है। यहां सिद्धान्त रूपमें बात रखी गयी है कि अध्यवसाय ही बंधका कारण है और बाह्य वस्तु तो बंधके कारणभूत अध्यवसानका हेतु हो जाय, निमित्त हो जाय इतने ही मात्रसे चरितार्थ हो जाता है। यहां तत्त्व यह कहा जा रहा है कि बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं, पर चरणानुयोगमें यह ही बात कही जायेगी तो बाह्य वस्तुके त्यागकी मुख्यतासे कही जायेगी और अध्यात्म-शास्त्रमें यह बात कही जा रही है तो अध्यवसानका हेतुपना सिद्ध करने के लिए कही जा रही है। तभी तो चरितार्थ शब्द दिया है कि बाह्य वस्तु बन्धके कारणका कारण बन करके चरितार्थ हो जाता है।

चरितार्थता व प्रश्नोत्तर— चरितार्थका अर्थ है अपना काम समाप्त कर देना, अपना प्रयोजन खत्म कर लेना है, सिद्ध हो गया सब उसका जितना मात्र प्रयोजन है। इतनी बात सुनकर शंका होती है, तो फिर बाह्य वस्तुका निषेध क्यों किया जाता है? इस गाथामें जोर इस बात पर दिया है कि हम अध्यवसानका प्रतिषेध करें व अध्यवसान रहित जो निज ज्ञायकस्वरूप है उसका आश्रय करें। इतनी बात समझानेके लिए बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है यह कहा गया है। तब शंका होती है कि जब बाह्य वस्त बंधका कारण नहीं है तो उसका निषेध क्यों कराया जाता है, फिर तो घरमें रहो, जो चाहे करो, अपने स्वभावका आश्रय लो, रागभाव दूर करो, निर्वाण पावो। फिर बाह्य वस्तुके निषेधकी प्रक्रिया क्यों है? उत्तर देते हैं कि अध्यवसानके निषेधके लिए।

बाह्य वस्तुके त्यागका प्रयोजन— अध्यवसानका आश्रयभूत है बाह्य वस्तु। क्योंकि बाह्य वस्तुका आश्रय किए बिना अध्यवसान अपने स्वरूप को नहीं पा सकता। कौनसा परिणाम ऐसा है कि जिसमें परवस्तु ध्यानमें न हो और राग हो जाय? बाह्यवस्तुका आश्रय किए बिना अध्यवसान होता ही नहीं है। जैसे संग्राममें कोई वीर पुरुष उत्साहसे भरकर यही तो कहेगा कि मैं आज वीर पुत्रकी जननीके पुत्रको मारूँगा, पर कोई क्या ऐसा भी कहता है कि आज तो मैं बांझके लड़केको मारूँगा? बांझके कोई लड़का ही नहीं होता है। तो उसका आश्रय कैसे करेगा? जैसे लोग मजाकमें औषधि बताते हैं ना, क्यों पंडित जी कि धुँवाकी कोपल, आकाशकी छाल पीसकर खा पी लो, ठीक हो जायेगा। तो धुँवा में कोपल और आकाशमें छाल होती है क्या? नहीं। अध्यवसान जितना होगा वह किसी परवस्तुका आश्रय करके होगा।

निराश्रय अध्यवसानका अभाव— जैसे संग्राममें कहा कि मैं आज वीर जननीके पुत्रको मारूँगा ऐसा तो अध्यवसान होता है क्योंकि वीर जननीका पुत्र हुआ करता है। पर यदि बाह्य वस्तुका आश्रय किए बिना भी यह अध्यवसान हो जाय तो ऐसा भी अध्यवसान होना चाहिए, क्या कि आज मैं बांझके पुत्रको मारूँगा ? क्यों नहीं होता है कि कोई बांझके पुत्र नहीं होता है। आश्रयभूतका सद्भाव नहीं है तो वह बंध कैसे हो जायेगा ? अध्यवसान आश्रयरहित होकर होता ही नहीं है। इस कारण अध्यवसानका आश्रयभूत जो बाह्य वस्तु है उसका अत्यन्त प्रतिषेध किया गया है। बाह्य वस्तुवोंका संन्यास करते हुए अपने आपमें ऐसा भाव रखो कि बाह्यवस्तुका त्याग तो अध्यवसानके आश्रयसे हटानेके लिए था, सो अब इस मनसे बाह्य अर्थका चिंतन भी न करना चाहिए। यह बात सुगमतया तब होती है जब समस्त परवस्तुवोंसे, परभावोंसे विविक्त शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपके सत्के कारण जो स्वयं इसका स्वरूप है तन्मात्र अपने आपका आश्रय हो तो रागादिक अध्यवसानका त्याग सुगम है।

शुद्ध रम्य तत्त्वके ज्ञानकी आवश्यकता—जीवको कोई न कोई रमनेका साधन चाहिए। जैसे बच्चेको खिलौना चाहिए। यदि उसका कोई निजी खिलौना नहीं है तो वह किसी दूसरेके खिलौनेको देखकर रोवेगा। उसे उसका खिलौना मिल जाय तो दूसरेके खिलौनेके लिए उसका रोना समाप्त हो जायेगा। इस जीवको भी अपने स्वरूपका बोध हो और उस स्वरूपमें स्थित करनेका जो अलौकिक सहज आनन्द जगता है उसका यथायोग्य अनुभवन हो तो इस अनुभवके बाद फिर बाहरी समागम, इन्द्रियविषय ये सब उसे असार जंचते हैं। तो दोनों चीजें चलते रहना चाहिए, बाह्य वस्तुका भी परिहार और अन्तरमें अपने आपका जो केवलस्वरूप है अर्थात् अपने ही सत्त्वके कारण अपने आपका जो लक्षण है उसका भी ज्ञान, उसकी उन्मुखता ये दोनों कर्तव्य ध्यानमें रहने चाहियें।

निजपरिचय बिना शान्तिकी अगति— भैया ! यदि केवल बाह्य वस्तुके त्यागका ही ध्यान है और अन्तरमें अपने आपके उस लक्ष्यका परिचय नहीं है कि त्याग करके मुझे जाना कहां है, किस ओर रमना है, क्या करना है ? इस बातका पता नहीं होता है तो, हालांकि बाह्य वस्तुके त्यागमें इस बातका पता होनेका सुगम अवसर मिलता है, पर न मिला हो ज्ञान यदि बाह्य वस्तुका त्याग करके तो अब कहां लगे ? ऐसा मार्ग न मिलनेसे उसकी गति रुक जाती है। अतः बाह्य वस्तुको अध्यवसानका आश्रयभूत समझो। साक्षात् बाधक तो मेरे लिए मेरा अध्यवसान है।

मेरा स्वरूप तो शुभ अशुभ भावसे रहित केवल चैतन्यमात्र है, ज्ञाताद्रष्टा रहना इसकी शुद्ध प्रकृति है ऐसा जानकर अपने आपकी ओर उन्मुख होना, परवस्तुवोंसे विमुख होना, मनसे भी चिंतन छोड़ना, ये सब चरणानुयोग और अपने आपकी उन्मुखता ये दोनों पालनके योग्य हैं। हालांकि चरणानुयोग केवल बाह्यवस्तुके त्यागके लिए नहीं कहता, बाह्य वस्तु आश्रयभूत है सो बाह्य वस्तुवोंको छोड़ो और अन्तरमें भी परिहार करो।

हेतुके निषेधसे हेतुमानका भी निषेध— हे आत्मन्! अपने अंतःस्वभावमें भी चलो क्योंकि आनन्द होगा तो यहांसे ही होगा और यहां की उन्मुखता करने पर बाह्य वस्तुओंका विकल्प भी न रहे ऐसी स्थितिमें शांति और आनन्द प्राप्त होता है। यह स्थिति जिस किसी भी क्षण मिलती है, दिखती है तो उसके स्मरणके प्रतापसे इस असंयमकी स्थिति में भी अथवा संघकी स्थितिमें भी उसे बहुत कुछ अनाकुलता रहती है। और प्रतीतिकी अपेक्षा तो एक मध्यमरूपसे अनाकुलता तो रहती ही है। तो ये बाह्य वस्तु अध्यवसानका आश्रयभूत हैं। इस कारण इनका त्याग चरणानुयोगमें बताया गया है अर्थात् कर्तव्य है कि हम बाह्य वस्तुका परित्याग करें इसलिए ही अध्यवसानके आश्रयभूत बाह्यवस्तुका निषेध किया है। हेतुका निषेध करनेसे हेतुमानका भी निषेध होता है।

बाह्यमलत्याग विना अन्तर्मलका अत्याग— भैया! ऐसा किसीके भी नहीं होता कि बाह्यका तो परिहार न करे और अन्तरका मोह दूर हो जाय। जैसे दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि धानमें जो चावल होता है उस चावल का ऊपरीमल छिलका और चावलका भीतरी मल जो चावलकी ललाई जैसी लगी है, जो कूटने पर पतली धूल रूपसे निकल जाता है। तो छिलका न निकालें और चावलके भीतरकी ललाईको निकाल दें ऐसा नहीं होता है। उसकी विधि यह है कि छिलका दूर हो और फिर अन्दरका मल भी दूर हो। इसी तरह हमारे बंधका कारणभूत जो विभाव है अथवा विभावके आश्रयभूत जो बाह्यवस्तु है, उस बाह्यवस्तुका परिहार करो और अन्तरमल जो विभाव है उस विभावसे रहित चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करके उस विभावसे अपनी उपेक्षा बनाएँ, यह बंधके निषेधका उपाय है।

केवल अध्यवसानकी बन्धहेतुताका समर्थन— फिर इसीका और समर्थन करते हुए कहते हैं कि बधक कारणके कारणका सद्भाव होने पर भी अर्थात् बाह्य बात होने पर भी बंधका कारण नहीं होता, ऐसी भी स्थिति होती है। जैसे ईर्यासमितिसे चलते हुए साधुवोंके पैरसे कोई कुन्थू जीवका विघात हो जाय तो ऐसी स्थितिमें चूँकि वहां सावधानी

अवस्था है और अध्यवसान परिणाम नहीं है, अज्ञान नहीं है, ऐसी स्थितिमें विघात होने पर भी वह बाह्य बात बंधका कारण तो नहीं बना। इससे यह जानना कि बाह्य वस्तु बंधके कारणका कारण है। इसी कारण बाह्य वस्तु बंधके हेतुपनेमें अव्यभिचारी नहीं है अर्थात् बाह्य वस्तु होनेसे बंध ही हो, ऐसा नहीं है।

अपना कर्तव्य— यह परिणाम बाह्य वस्तुका आश्रय करके बंधका कारण बनता है इसलिए बुद्धिपूर्वक जब तक रागकी हमारेमें योग्यता होती है, हमारा कर्तव्य है कि हम उस बाह्य वस्तुका परिहार करें और यथार्थ यह जानकर कि यह अध्यवसान भाव मुझे बंधनमें डालने वाला है, संसारमें घुमाने वाला है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, इससे मेरा हित नहीं है। राग किया तो क्या पूरा पड़ा, अथवा कोई लोगोंमें अपनी पोजीशन की बुद्धि रखी तो क्या पूरा पड़ा ? पूरा तो पड़ेगा आत्माका विभाव शून्य निज ज्ञानज्योतिमात्र स्वरूपके अनुभवमें। इसलिये सब प्रयत्न करके अपने स्वभावकी ओर उन्मुख होना यही अपना कर्तव्य है।

बंधका बाह्य वस्तुके साथ अन्वयव्यतिरेकका अभाव— बंधका कारण क्या है यह प्रकरण चल रहा है। बंधका वास्तविक कारण अध्यवसान परिणाम है रागद्वेषमोह भाव, किन्तु रागद्वेष मोहका जो निर्माण होता है वह किसी न किसी परवस्तुका विषय करते हुए होता है। ऐसे कोई रागद्वेषादिक नहीं हैं जिनमें परवस्तुका विषय न हो और हो जाय। तब वह तो परवस्तु है जिसका विषय होता है रागद्वेषादिकमें वह बाह्य वस्तु वास्तवमें बंधका कारण नहीं है किन्तु बंधके कारणका कारण है, क्योंकि बाह्य वस्तुका रागद्वेष भावके साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं है। बाह्य वस्तुके बिना भी बंध हो जाता है और बाह्यवस्तु सामने है तब भी बंध नहीं होता है। इतना तो निश्चित है कि बाह्य वस्तुका विषय जब तक यह जीव नहीं करता तब तक राग नहीं हो सकता। किन्तु बाह्य वस्तु सामने न भी हो फिर भी बंध हो जाता है।

बाह्य वस्तुके साथ बन्धके अन्वयव्यतिरेकके अभावके उदाहरण— जैसे आपका घर मकान ये कहां सामने हैं, फिर भी राग बसाते हुए यहां चल रहे हैं। कोई जीव घर गृहस्थीका त्याग करदे, साधु हो जाय फिर भी घरका चिंतन रहे तो घर त्याग देने पर भी बंध चल रहा है। परका आश्रय जरूर है। मनमें घरका कुछ ख्याल रहे तो बाह्यवस्तु न भी हो तो भी बंध है, बाह्य वस्तु सामने हो तब भी बंध है, नहीं हो ऐसा भी हो जाता है। जैसे साधु हो गए, उनके सामने परिवारके लोग बैठे हैं, दर्शन करने

आए हैं, बैठे रहें पर बंध नहीं है। सामने तो हैं वे ही निमित्त जो पहिले थे पर बंधन अब नहीं है। और जैसे मुनिराज ईर्यासमितिसे विहार करते चले जा रहे हैं, बड़ी सावधानीसे, बड़े शुद्ध भावसे और उनके चलते हुए में कोई अचानक कुन्थू जीव गुजर गया, पद तले आ गया, इतना हो जाने पर भी मुनिके बंध नहीं है क्योंकि न उनमें अज्ञानता थी, न उन्माद था, सावधानीसे चल रहे थे, आशय भी निर्मल था, सो बंध नहीं होता है।

आश्रय और उपेक्षा— अध्यवसानका अन्वयव्यतिरेक बाह्यके साथ नहीं है मगर कर्मप्रकृतिके साथ है। कर्मप्रकृतिका उदय हो तो वहां बंध है, न उदय हो तो वहां बंध नहीं है, इसलिए बाह्यवस्तु बंधका कारण नहीं है। फिर भी बाह्य वस्तुका जो त्याग किया जाता है वह अध्यवसानके निषेधके लिए किया जाता है। न चीज होगी न राग द्वेष होगा, पर जिस चीजको देख लिया, सुन लिया या अनुभवमें आ गया तो न भी सामने हो तो भी चिंतन करके राग कर सकते हैं। इस कारण ज्यादा अपनेको लगानेका कहां यत्न करें, किसका निरोध करें ? अपने आपमें जो निज शुद्ध चैतन्यस्वभाव है उसका आश्रय करें और रागादिक विकारोंकी उपेक्षा करें, यह यत्न मेरा हितकारी है और साथ ही साथ चरणानुयोगकी बुद्धिसे भी बाह्य वस्तुका त्याग करें।

स्वभाव व विभावका भेद— ये अध्यवसान परिणाम आत्माके शुद्ध निर्दोष परमात्मतत्त्वसे अत्यन्त भिन्न हैं, विपरीत हैं, रागादिकका जड़ स्वभाव है और अपने आत्माका चैतन्यस्वभाव है। रागादिकका यद्यपि आत्मामें ही परिणमन होता है फिर भी रागका जो लक्षण है वह अचेतपना है। ज्ञानका जो लक्षण है वह चेतपना है। तो मेरा स्वभाव चेतपना है, अचेतपना नहीं है। जैसे दर्पणके सामने कोई चीज आ गयी तो दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब झलक गया, वह प्रतिबिम्ब दूसरी चीजकी परिणति नहीं है, दर्पणकी परिणति है, किन्तु दर्पणके स्वभावसे उठी हुई परिणति नहीं है। इस कारण ही दर्पणके स्वभावमें और वर्तमान परिणमनमें भेद करने वाला ज्ञानीपुरुष भेद करता है। यह प्रतिबिम्ब दर्पणकी चीज नहीं है। दर्पणकी चीज तो स्वच्छता है। इसी तरह कर्मोदयका निमित्त पाकर आत्मामें जो रागादिक विकार हुए हैं सो वे विकार आत्माके स्वभावसे नहीं हुए। वे हुए उपाधिकाका सन्निधान पाकर। मेरा स्वभाव तो चैतन्यस्वरूप है इसलिए मैं चैतन्यस्वरूप हूं, विकाररूप नहीं हूं, ऐसा आश्रय करना और रागादिक विकारको अहितरूप मानकर, हेय समझकर उनका उपेक्षा करना और रागादिकका आश्रयभूत जो बाह्य पदार्थ है उस बाह्य

पदार्थका त्याग करना आदि । इस विधिसे अपना जीवन चले, अपने ज्ञान-स्वभावका अवलोकन हो ।

प्रवेशके लिये त्याग, तोड़ और उपेक्षा— भैया ! अपने हितके लिए क्या करना है ? मूलमें तो ज्ञान करना है । यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूं, इसकी जो वृत्ति होगी वह ज्ञाता द्रष्टा रूप वृत्ति होगी, पर उपाधिका सन्निधान पाकर रागादिक विकार भी परिणम गए, लेकिन वह रागादिक मैं नहीं हूं । मुझमें उपाधिके सन्निधानसे विभाव परिणमन होता है । ऐसा जानकर रागादिक भावोंसे उपेक्षा करे, अपने ज्ञानस्वभावमें प्रवेश करे और इस कार्यके लिए बाह्यमें बाह्यवस्तुका त्याग करे । बाह्यवस्तुका त्याग करना बाह्य वस्तुका विकल्प तोड़ना, रागादिक भावोंसे उपेक्षा करना— ये तीनों बातें सहायक हैं । आत्माके ज्ञानस्वभावमें प्रवेश करनेमें । केवल बात बातसे ज्ञानका आश्रय नहीं होता है । करना होता है, करना क्या है ? यह ज्ञान और बाह्यवस्तुका परिहार ।

अतद्भावमें बन्धकी अहेतुता— इस तरह यहां यह भी सिद्ध हुआ कि बाह्यपदार्थ जीवका अतद्भाव है । यह खास जाननेकी बात है कि जो अतद्भाव है वह बंधका कारण नहीं है । ये घड़ी कागज आदि अलग पड़े हैं, ये जो पड़े हुए हैं ये जीवके द्रव्य नहीं, जीवके पर्याय नहीं, फिर जीवसे जो अत्यन्त जुदे हैं वे बाह्य पदार्थ जीवके बंधनके कारण कैसे हो सकते हैं ? साक्षात् बंधका कारण राग होता है । आप यहां बैठे हैं-- किसी चीजको देखकर राग हो गया तो पाप बँध गया । चीज बाहर है, पास नहीं है, पर आप बँध गए । किससे बँध गए ? चीजसे बँध गए । अपनेमें जो राग कल्पनाकी है उससे बँध गये । योगियोंको इसी ज्ञानके कारण मतिभ्रम नहीं होता । बाह्यवस्तु चूँकि जीवका अतद्भूत हैं इसलिए वे बंधका कारण नहीं हैं । तब अध्यवसान परिणामने याने रागद्वेष भावने, आत्माके विकारने बन्धन कराया क्योंकि यह विकार है जीवका तद्भाव । जीवका परिणमन जीवको बांध सकता है, अजीवका परिणमन अजीवको नहीं बांध सकता है । यह निश्चयनयसे जीवका स्वरूप चल रहा है ।

प्रमाणमें स्वतन्त्रता व निमित्तनैमित्तिकभाव दोनोंका परिज्ञान-- जीवका राग परिणमन कर्मोदयके निमित्तसे हुआ और बाह्य वस्तु जीवके रागपरिणमनका आश्रय हुआ । इतने पर भी जीवका कर्ममें और बाह्यवस्तु में कुछ परिणमन दखल नहीं है और कर्मोंका, बाह्य वस्तुका जीवमें कुछ दखल नहीं है, निमित्तनैमित्तिक भाव है । ऐसी सावधानी है जैनसिद्धान्तके द्वारा । स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रहे और निमित्तनैमित्तिक भाव भी परिहृता

रहे। क्या वस्तुकी स्वतंत्रताका घात करके निमित्तनैमित्तिककी दृष्टिमें कुछ कल्याण कर लेगा यह जीव और क्या निमित्तनैमित्तिक भावका खण्डन करके सर्व क्रियाएँ वस्तुके स्वभावसे ही होती हैं ऐसा मानकर क्या हम विकारोंसे उपेक्षा कर लेंगे ? इस कारण निमित्तनैमित्तिक भाव भी ज्ञात रहे और वस्तुकी स्वतंत्रता ज्ञात रहे।

स्वतन्त्रता व नैमित्तिकताके ज्ञानकी साधकता— वस्तुकी स्वतंत्रता का परिज्ञान तो हमारे हितका प्राण है, उसे हम खोकर कहां जायेंगे ? पर जिससे हमें अलग होना है उसकी पोल जब तक मालूम न पड़े तब तक हम उससे अलग कैसे हों ? अलग होना है हमें रागादिकभावोंसे। रागादिक न तो जीवके स्वभावसे उठे हैं और न क्रोधादिक बाह्य वस्तुवोंसे उठे हैं। कर्मोंका निमित्त पाकर आत्मामें रागादिक भाव उठ गए, इसलिए इन रागादिकोंका कोई अधिकारी नहीं है। किसको मालिक मानें ? जैसे कोई लावारिस बच्चा सड़क पर घूम रहा हो तो उस लावारिस बच्चेसे किसी की ममता नहीं होती है। वह बच्चा बरबाद होता फिरता है इसी तरह रागादिक भाव लावारिस हैं, खूब पहिचान लो। जीवके तो हैं नहीं रागादिक। जीवके स्वभावसे तो उठते नहीं हैं और अचेतनके भी ये रागादिक भाव नहीं हैं, इसलिए इन रागोंका कोई अधिकारी नहीं है।

अज्ञानी और ज्ञानीकी मान्यता-- अज्ञानी मानता है कि मैं रागका स्वामी हूं। ज्ञानी जीव मानता है कि मैं रागका स्वामी नहीं हूं जिनको यथार्थ ज्ञान नहीं है उनके राग होता है और उनके बंधन चलता है और जिनको यथार्थ ज्ञान है फिर भी कर्मविपाकके वशसे रागादिक होते हैं तो भी रागमें राग नहीं है, रागमें एकत्व बुद्धि नहीं है। राग ही मैं हूं ऐसा उनके भ्रम नहीं है। मैं रागरहित त्रैकालिक अखण्ड एक चैतन्यस्वभावमात्र हूं, ऐसी अपने चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि होती है।

विकल्पका मिथ्यापन-- भैया, यहां यह बतायेंगे कि आत्माका मोह रागद्वेष बंधका कारण है और वह परिणाम, अध्यवसान मिथ्यारूप है, विपरीत है अथवा असत्य है। असत्य किस दृष्टिसे है ? जैसा हम सोचते हैं वैसा बाहरमें होता नहीं है तो हमारा सोचना झूठ हुआ। वह सोचने रूप जो परिणमन है वह परिणमन तो है, पर वह परिणमन अपना काम नहीं कर पाता है। मैं जैसा सोचूँ वैसा बाहरमें हो जाय, यह किसी को न हुआ, न होगा। उसमें कुछ न कुछ अन्तर पड़ता ही है। किसी ने सोचा कि यह काम होना चाहिए। तो वह काम उसी समय तो नहीं होता। दूसरे दिन होता है या कोई बड़ा समर्थ है तो २ घंटे बाद हो

गया। तो भी उसमें दो घंटेका अन्तर तो हो गया। किसीका एक मिनट बादमें ही काम हो गया। तो वह एक मिनटका अन्तर तो हो गया। किसी का और जल्दी काम हो गया तो भी कुछ समयका अन्तर अवश्य पड़ता है। क्योंकि इच्छाका भाव और भोगनेका भाव ये दोनों भाव एक समयमें नहीं होते हैं।

इच्छा और भोगका एक साथ योगका अभाव— किसीकी इच्छा है कि अमुक चीज खानी है तो उस समय वह चीज कहां धरी है और जिस समय जिस चीजको खा रहे हैं उस समय उस चीजके प्रति यह इच्छा नहीं होती है कि वह चीज खानेको मिले। तो ये दोनों भाव एक साथ नहीं हो सकते हैं। ज्ञानीपुरुष यही तो सोचता है सो उसको बाह्य पदार्थकी इच्छा नहीं होती है। क्या इच्छा करें? जब इच्छा करें तब वह चीज मिलती नहीं और जब वह चीज मिलती है तो उसकी इच्छा नहीं होती है। फिर उस इच्छासे क्या लाभ है? तो इच्छा करना मिथ्या हुआ ना, इच्छा करनेका काम तो नहीं बना ना, इसी कारण ये समस्त अध्यवसान मिथ्या हैं, इस बातको इस गाथामें दिखाते हैं।

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि।
जा ऐसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

अध्यवसानकी बेकारी— मैं दूसरे जीवको दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, बांधता हूं, छोड़ता हूं, ऐसी जो मोहभरी बुद्धि है वह निरर्थक है, वह क्षोभ है क्योंकि मैं जैसा सोचूँ वैसा परपदार्थोंमें काम नहीं होता है। बच्चेके प्रति कौन ऐसा नहीं सोचता है कि मैं इसे खूब सुखी कर दूं पर उस बच्चेके कोई रोग होता है तब दुःखी होता है, यों ही कल्पनाएं बनाकर दुःखी होता है। सारे आरामके साधन जुटा दो किन्तु उसका मलिन परिणाम है, मलिन भाव है तो उसकी तो अज्ञानकी ही बात बनेगी दुःखकी ही बात बनेगी। तो आपके सुखी सोचने से, सुखका यत्न करने से उसको सुख होगा यह बात नहीं है। उदय ही उसका अच्छा होगा तो वह सुखी होगा। आप उस बच्चेके सुखी करनेके निमित्त होंगे।

भैया! जबसे बच्चा पैदा हुआ, उसे गोदमें लें, खिलाएँ, उसकी बड़ी सेवा करें, बड़ा साज श्रृङ्गार करें, जैसा वह खाना चाहे वैसी ही पूर्ति करें, अनेक प्रकारसे आप उसकी सेवा करें, तो अब यह बतलावो कि आपका पुण्य बड़ा है या आपके बच्चेका पुण्य बड़ा है? बच्चेका पुण्य बड़ा है। तो जिसका पुण्य बड़ा है उसकी आप फिकर करें यह कितनी उल्टी बात है? अरे जो पुण्य हीन हो, दुःखी हो, दरिद्र हो उसकी

फिकर करो। जो तुमसे ज्यादा पुण्य वाला है उसकी चिंता न करो।

परके सुखी दुःखी करनेके परिणामकी बेकारी— मैं दूसरे जीवोंको सुखी करता हूं, यह मिथ्यापरिणाम है क्योंकि मेरे सुखी करनेके यत्नसे मेरे सोचनेके कारण दूसरा सुखी नहीं होता। मैं दूसरे जीवोंको दुःखी करता हूं, यह सोचना भी मिथ्या है क्योंकि मेरे सोचने के कारण दूसरा दुःखी नहीं होता है। जैसे पड़ौसमें अनबन हो तो दूसरा पड़ौसी अपने मनमें ही ईर्ष्याकी बात, दूसरेके विनाशकी बात सोचता रहता है। पर देखता वह यों है कि मैं तो ज्योंका त्यों हूं और जिसका बुरा सोचता हूं उसका अभ्युदय हो रहा है। एक तो सोचने से बुरा होता नहीं, दूसरे जो किसीका बुरा सोचता है वह दूसरा चाहे सामान्य स्थितिमें क्यों न हो, उसे यों लगता है कि यह तो बहुत बढ़ गया है। मैं दूसरे को दुःखी करता हूं, ऐसा परिणाम करना मिथ्या है। व्यर्थ विकल्पोंसे तो अपध्यान बनता रहता है, केवल कर्म बंध ही हाथ रहता है। कोई बाह्यका कुछ परिणमन नहीं करता है, खुद कर्म बांध लेता है, खुद दुःखी होता है, खुद अपनी दुर्गति कर लेता है।

परके बन्धनके आशयकी व्यर्थता— मैं दूसरे को बांधता हूं, यह अध्यवसान करना मिथ्या है। देखिये सीता जी का जीव प्रतीन्द्र बनकर रामचन्द्र जी को बांधने आया कि उनमें कर्म योग पैदा हो जाय, धर्मसे विचलित हो जायें, मोक्ष अभी न जायें फिर साथ ही साथ मोक्ष जायेंगे। बांधनेका बड़ा यत्न किया, मगर बांध भी सका क्या ? नहीं बांध सका।

परकी मुक्ति करनेके आशयकी व्यर्थता— मैं दूसरेको मुक्ति भेजता हूं, दूसरेको कर्मोंसे छुड़ाता हूं, ऐसा भी कोई सोचे तो वह मिथ्या है। दूसरेका कितना ही यत्न करें उपदेश द्वारा या कुछ आग्रह करके, किन्तु उसका परिणाम यदि वीतरागताका नहीं बनता, शुद्ध सम्यग्ज्ञानका परिणाम नहीं बनता तो आप उसे मुक्ति कैसे भेज देंगे ? उसका छूटना उसके ज्ञान और वैराग्यके कारण होगा, तुम्हारे सोचने के कारण न होगा।

परविषयक सर्वविकल्पोंका मिथ्यापन— इस कारण मैं दूसरे को दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, बांधता हूं, छुड़ाता हूं, ऐसा सोचना मिथ्या है। जैसे कोई कहे कि मैं तो आज आकाशके फूल तोड़ूंगा तो जैसे उसका यह कहना बावलापन लगता है इसी प्रकार यह भी बावलापन है कि मैं दूसरेको दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं क्योंकि परके किये, ये परमें काम नहीं हो सकते हैं। जैसे कि आकाशसे फूल तोड़ने का काम नहीं हो सकता है। जैसे आकाशसे फूल तोड़नेके परिणाममें कोई अर्थ क्रिया

नहीं है इसी तरह दूसरेके दुःखी सुखी करनेकी, बिगाड़की कोई अर्थक्रिया नहीं है। इस कारण यह विकल्प करना मिथ्या है।

अपना कर्तव्य— भैया! तब क्या करना, अपने आपके सहजशुद्ध चैतन्यस्वरूपको जानकर इसको ही शरण मानकर, इसके ही उन्मुख होकर विकल्प जालको तोड़ना, मोह जाल दूर करना और अपने सहज ज्ञानस्वभावके अनुभव द्वारा तृप्त होना।

सर्व परकी अरम्यता— सारा जगत् बखेड़ा है, अनित्य है, मायारूप है, परद्रव्य है, विनाशीक है। इसकी प्रीति करनेसे हित नहीं होता, सुख नहीं होता। यह भ्रम छोड़ो कि यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है खुद सोच लो। अध्यवसानका भाव उठता है, रागका विकल्प जगता है तो आपको सब अच्छा मालूम होता है। अभी देखो—पुरुषोंको स्त्रीका रूप अच्छा लगता है और सम्भव है कि स्त्रीको पुरुषका रूप अच्छा लगता होगा। पर न तो पुरुषका रूप अच्छा है, न स्त्रीका रूप अच्छा है। हड्डी, मांस, खून, पीप आदिका ही तो यह पिंड है। बाहरी सजावटसे कहीं मर्म तो नहीं मिट जाता, पर रागभावका उदय होता है सो ये बाहरी पदार्थ उसे सुहावने लगते हैं। बाह्यपदार्थ सुहावने नहीं हैं।

सौन्दर्य का भ्रम— अच्छा, जरा विचार करो— मनुष्योंकी दृष्टिसे बात पूछते हैं। जैसे कि मनुष्य विकल्प करता है कि स्त्रीका रूप अच्छा लगता है, पुरुषका रूप नहीं अच्छा होता, बाल भी आए, मूँछ भी आए, न लगता होगा पुरुषोंको पुरुषका रूप अच्छा। मगर और जातियों में देखो। तिर्यञ्चोंमें गाय बैल हों तो उनमें से बैलका रूप कितना अच्छा लगता है? सिंह और सिंहनीमें सिंहकारूप सिंहनीसे अच्छा होता है। वहां पुरुषवर्गमें ही अधिक अच्छा रूप मिलेगा। हम यह नहीं कह रहे हैं कि स्त्रीका रूप खराब होता है। पर कामी लोगोंको यह भ्रम है कि स्त्रीका रूप अच्छा होता है।

स्वहितकी प्रेरणा— अरे भैया! रूप क्या होता है कहीं हो, पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श है पर बुद्धिमान् पुरुष वह है कि ऐसे मलिन खोटे शरीरको पाकर कोई पवित्र काम कर जाय, धर्मका काम कर जाय। इस मनका ऐसा सदुपयोग करो कि आत्मस्वरूपका ज्ञान हो उसमें ही झुकनेका परिणाम हो, उसमें ही लीनता बने, यही हमारा कर्तव्य है। इसीलिए हम भगवानके दर्शन करते हैं कि हे प्रभो! तुमने करने योग्य काम किया। हम तो अभी तक पापमें डूबे हैं। मेरा कैसे उद्धार हो? इतनी बात सोखने के लिए हम प्रभुके दर्शन करने आते हैं। यदि और अधिक न बन सके

तो इतना तो करें कि अपनी गलतीको गलती मान लिया करें, यह भी एक बड़ा कार्य है।

अध्यवसानकी अनर्थता— जितने भी ये अध्यवसान होते हैं वे परके सम्बन्धमें कुछ परिणमन चाहनेके विकल्प होते हैं। सो वह मिथ्या है। क्यों मिथ्या है कि इन विकल्पोंमें जैसी चाह भरी है उसका सोचना तब सही है जब कुछ सोचूँ और वह काम हो जाय। हम अनेक प्रकारके विकल्प करते हैं, पर उनका परिणमन अपने आधीन है नहीं। तो विकल्प अपनी अर्थक्रिया नहीं करते, इस कारणसे विकल्प मिथ्या हैं। मैं दूसरे जीवको दुःखी करूँ, सुखी करूँ, या बांधू या छुड़ाऊँ, जितने भी जो अध्यवसान हैं वे आत्माके अनर्थके लिए हैं क्योंकि जिस कालमें विकल्प किया उस कालमें आत्माको संतोष नहीं है, तृप्ति नहीं है, शांति नहीं है, बल्कि क्षोभ ही रहता है। सो अध्यवसान करते हुएमें तो क्षोभ है।

अध्यवसानके अर्थक्रियाके अभावका उदाहरण— जैसे कोई कहे कि मैं आकाशके पुष्प तोड़ता हूं तो यह कहना झूठ है, क्योंकि जैसा विकल्प किया तैसा वहां पदार्थ है ही नहीं। इसी तरह यहां भी दूसरे जीव के सुखी दुःखी आदि करने के परिणाम करें, जैसा हमने सोचा वैसा वहां है हो नहीं, इस कारण केवल क्षोभके लिए ही विकल्प हुआ। सो अर्थक्रिया नहीं हुई, क्योंकि यह पूर्ण नियम है कि प्रत्येक पदार्थ किसी परपदार्थका व्यापार नहीं करता। विकल्पोंका जो स्वरूप बना है वह इसीसे बना है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थका जैसा परिणमन चाहता है वैसा होता नहीं है इसीसे विकल्प बनते हैं। अपनी दृष्टि सही बनना चाहिए, हम पर क्या गुजरती है और हम कहां तक सफल हो पाते हैं? यह अपने ज्ञानके अभ्यास पर निर्भर है, दृष्टिकी दृढ़ता पर निर्भर है।

सही ज्ञानकी परमावश्यकता— भैया! अव्रत अवस्थामें भी यदि यह निर्णय बनाए रहें कि विकल्प जितने हैं वे आत्माके अनर्थके लिए हैं तो यह भी एक प्रकाश है। अपना कर्तव्य तो यह है कि सभी विकल्पोंका परिहार कर शुद्ध आत्माका आश्रय करें। इतनी ही सही यह बात अव्रत अवस्थामें भी समझें जितनी कि छठे सातवें गुणस्थान वाले समझते हैं, बातके सही समझनेमें रंच भी कसर नहीं रखना तो यहां यह सिद्ध किया है कि जितने भी विकल्प हैं वह बाहरमें काम न बननेके हैं, इस कारण वे अपनी अर्थ क्रियाको करने वाले नहीं हैं। अब प्रश्न होता है कि क्यों नहीं हैं अपनी अर्थ क्रिया करने वाले ये अध्यवसान? उत्तर देते हैं कि—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि तुमं ॥२६७॥

विकल्पोंका मिथ्यापन— मैं दूसरे जीवोंको बांधता हूं अथवा छुड़ाता हूं, ऐसा जो परिणाम किया इसकी अर्थक्रिया क्या होनी चाहिए ? दूसरा बंध जाय या छूट जाय यह तो उस विकल्पकी अर्थ क्रिया है ना। परंतु इसने तो अध्यवसान किया कि मैं दूसरेको बांधता हूं और उस जीवका राग परिणाम होता नहीं तो कहां बँधा वह ? तुम्हारा सोचना गलत हो गया कि नहीं ? हो गया। यहां यह बतला रहे हैं कि विकल्प जितने हैं वे सब खाली हैं, रीते हैं, उनका काम नहीं बनता है और कदाचित् बन भी जाय। जिस समयमें हमने यह परिणाम किया कि मैं इसको बांधू और उसी समयमें उसका राग भाव बढ़ा सो बँध गया, तो वह भले हो बँधा, मगर मेरे सोचनेके कारण वह बँध गया, सो बात नहीं है।

विकल्पोंके मिथ्यापनका उदाहरण— जैसे आपने अपने बच्चेको हुकुम दिया कि वहां चले जावो, दुकानका काम करो, और वह आपकी बात मानता है, चला गया तो आपके कहनेके कारण वह नहीं चला गया। आपका कहना निमित्त तो जरूर हुआ किन्तु उसके ही परिणाममें आया कि मुझे जाना चाहिए सो वह चला गया। जैसे कोई बिल्डिंग बन रही है, उसमें किसी मजदूरसे कहो कि यह ईंटा ले जावो, तो वह आपके कहनेसे नहीं ले जाता। उसे स्वयं इच्छा है, उसे स्वयं यह दिखाना है कि हम इस तरहसे काम करें तो हमें कुछ प्राप्ति होगी। तो अपने आपके परिणामसे प्रेरित होकर उसने कार्य किया। आपका कहना तो खाली है अर्थात् जैसा आप सोचते हैं, जैसा आप कार्य चाहते हैं उस विकल्पकी अर्थक्रिया परपदार्थमें नहीं होती।

बंध मोक्षका अपने परिणामसे ही अविनाभाव-- जीव अपने परिणाम परको बांधने विषयक बनाए और फिर भी दूसरेके रागपरिणाम न आये, तो वह बँध नहीं सकता, हमने दूसरेको छुड़ानेका भाव किया और उसके वीतराग परिणाम नहीं आता तो वह छूट नहीं सकता। हमारे अध्यवसानमें दूसरे तो मेरे आश्रयमात्र रहते हैं। वस्तुतः जीव अपने ही अध्यवसानसे बँधते हैं और अपने ही वीतराग परिणामसे मुक्त होते हैं। जिसके सराग परिणाम और वीतराग परिणाम हो तो दूसरा उसको बांधनेका व छूटनेका विकल्प न भी करे तो भी वह बंध जाता है व छूट जाता है। जैसे कोई साधु अपने वीतरागभावसे ज्ञानसुधारसके पानमें लग रहा है तो वह मुक्त होगा। कोई दूसरा मुक्तिकी बात सोचे तो वह मुक्त

हो, ऐसा नहीं है।

मिथ्याका अर्थ स्वार्थक्रियाकारिताका अभाव— यहां अर्थक्रिया की बात चल रही है। कोई पदार्थ किसी परपदार्थरूप परिणमता नहीं है। कोई पदार्थ किसी परपदार्थमें कुछ करता नहीं है, इस कारण भी यह अध्यवसान कि मैं दूसरेको सुखी करूँ, दुःखी करूँ, बांधू, छुड़ाऊँ, ये सब मिथ्या हैं। मिथ्याका अर्थ है कि मेरे सोचने से वहां कुछ नहीं होता किन्तु मेरे सोचनेसे स्वयमें अपध्यान हुआ। दूसरेका खूब बुरा सोचें, अहित की बातें सोचें तो मेरे सोचने से वहां कुछ बिगाड़ नहीं होता। किन्तु यह मैं ही बुरा सोचकर अपना अनर्थ कर लेता हूं। हम दूसरेको सुखी करने की भावना करते हैं तो हमारे सोचनेसे कोई दूसरा सुखी नहीं हो जाता, पर मैंने दूसरेके सुखकी भावना करके पुण्य बंध कर लिया।

आश्रय और निमित्तमें अन्तर— भैया ! यहां एक बात खास जानने को है। दो तरहके पदार्थ हैं— १–आश्रयभूत और २–निमित्तभूत। इस जीवके सुख दुःख आदिकके परिणमनमें कर्म तो निमित्त है, मगर बाकी जितने भी पदार्थ हैं जो आंखों देखे गए हैं—सुने गए हैं ये सब पदार्थ आश्रयभूत हैं। तो लोग क्या करते हैं कि आश्रयभूत पदार्थको निमित्त कह कर यह दिखा देते हैं कि देखो—निमित्त तो जुटा, पर काम तो नहीं हुआ, इसलिए निमित्त पाकर नहीं हुआ। पर वह निमित्त है ही नहीं। निमित्त तो कर्मोंका उदय है। बाह्य पदार्थ जो आश्रयभूत हैं ये हमारे बंधके कारण नहीं हैं, हमारे परिणमनके कारण नहीं हैं, ऐसा जानकर अभिमानको छोड़ो कि मैंने ऐसा किया तो ऐसा हुआ।

अध्यवसानमें अहंकाररसका पोषण— भैया ! जीवमें अनादिसे मिथ्याबुद्धिके कारण अहंकाररस लगा हुआ है--मैंने यह किया। और धर्म कार्य करके भी अहंकारका पोषण करते हैं। बिरले ही ज्ञानी संत हैं जो गुप्त रहकर धर्मका पालन करते हैं। मगर देखो ना, जितने भी दान होते हैं, अथवा व्रत ग्रहण करते हैं तो ये जीव ज्ञान बिना अहंकारके कारण और अपनी पर्यायके नामके कारण करते हैं। तो यह अहंकार टूटे इसके लिए यह जानो कि हमारे परिणामसे बाह्यपदार्थोंमें कुछ परिवर्तन नहीं होता। मेरे सोचनेके कारण किसी जीवका कुछ हो जाय ऐसा सम्बन्ध नहीं है। तो यह अध्यवसान इसी कारण मिथ्या है कि परपदार्थोंमें जैसा सोचो वैसा होता नहीं है।

सोचत और बनत कुछ और हि— हम विचार कुछ और करते हैं, किन्तु पदार्थोंमें परिणमन कुछ और होता है। मनुष्य सोचते हैं कि

हम धन कमाकर रख लें ताकि बुढ़ापेमें फिर कोई फिकर न रहे, ब्याजसे ही काम चल जायेगा और कदाचित् वह धन लुट गया तो क्या होगा ? तो उस बेचारेने तो जिन्दगीभर कमाया और थोड़ी ही देरमें सारा धन खत्म हो गया। सोचते हैं मनुष्य कि यह बच्चा मुझे बुढ़ापेमें आराम देगा और जब बच्चा बड़ा होता है, तो वह अपने कषायोंको संभालेगा कि दूसरे जीवोंके कषायोंको संभालेगा ? सो सोचते कुछ हैं और होता कुछ है। तो परपदार्थोंके बारेमें सोचना अनर्थ ही हो गया। बाह्यपदार्थोंमें वह काम हो या न हो, तुमने तो अपने परिणामसे अपना भविष्य बना लिया।

अनुभूत परख-- अभी गृहस्थीमें रहते हुए ४०, ५०, ६० वर्ष हो गए आप लोगोंको। किसी न किसी जीवमें राग, मोह, विकल्प, अनवरत प्रतिसमय चल रहे हैं। वहां न करते विकल्पका काम तो वहां कुछ परिणमन रुकता था क्या ? और विकल्प किया तो वहां कुछ परिणमन कर दिया क्या ? मेल हो गया हमारे विकल्पोंका और परपदार्थोंके परिणमन का। पर कदाचित् मेल हो गया तो उसका अर्थ तो यह नहीं है कि मेरे सोचनेसे ऐसा हो गया। कोई भला काम बन गया तो अहंकार करते हैं कि देखो मैंने किया तो यह हुआ और बुरा हो जाय तो कहते कि मैंने तो अच्छेके लिए सोचा था पर होनहार यही था इसलिए यही हुआ। तो इस जीवको तो चाहिए अपने विकल्पोंका पूरण। जहां इसके विकल्पोंका पूरण बने वहां ही यह रमता है।

आशय मलिनता- यह जगत इस निष्फल अध्यवसानसे मलिन है। यह अध्यवसान परिणाम निष्फल है। निष्फल मायने हैं कि इस जीवने जो सोचा सो न हो। हो ही नहीं सकता। अपनेको बड़ा मानने वाले पुरुष इसी कारण क्रुद्ध होते हैं। वे भ्रम करते हैं कि मेरा विश्वपर अधिकार है और होता नहीं है। परपदार्थोंके सोचनेसे और दुःखी होते हैं। मेरा ही तो बालक है, ऐसे क्यों नहीं चलता ? मेरा ही तो मित्र है ऐसे क्यों यह विपरीत सोचता है ? मानलिया कि मेरा परपदार्थोंपर मेरा अधिकार है और इस मान्यताके वश होकर जब देखते हैं कि वहां ऐसा कार्य नहीं हुआ तो दुःखी होते हैं।

अध्यवसानमें मान्यतायें-- देखो भैया ! इस अध्यवसानके द्वारा इस जीवने अपनेको क्या-- क्या नहीं बना डाला ? घर गृहस्थीमें हों तो मानते हैं कि मैं घरवाला हूं और कोई व्रत ग्रहण किया तो मानते हैं कि मैं व्रती हूं, त्याग किया तो मानते है कि मैं त्यागी हूं, साधु बन गए तो मानते

है कि साधु हूं। अध्यवसान देखते जावो। शुरूसे अंत तक अध्यवसान चलते जा रहे हैं पर ऐसा कभी नहीं सोचा कि न मैं गृहस्थी हूं, न साधु हूं, न त्यागी हूं, न मैं परिवार वाला हूं। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप सत् पदार्थ हूं। हालांकि कहना होगा, चलना होगा, खाना होगा, ठीक है, किन्तु ज्ञान है, वैराग्य तो वही चलना, खाना संयम पूर्वक मरना पड़ेगा। बातें सब होंगी, मगर श्रद्धामें तो यह बात बसी हो कि मैं वही हूं जैसा कि बड़े बड़े योगी अपनेको चैतन्यस्वरूप मानते हैं। ऐसा ही गृहस्थको भी अपनेको मानना चाहिए।

भैया! ऐसा नहीं है कि साधुजन तो अपनेको चैतन्यस्वरूप मानें और गृहस्थजन अपने को परिवार वाला समझें, दुकान वाला समझें और इसकी भी मुक्ति हो जाय। मुक्तिका और संतोषका तो उपाय एक ही है। चाहे साधु हो, चाहे गृहस्थ हो दोनों का मुक्तिका एक ही उपाय है। जिनसे बनता है सो वे करते हैं। मुनिपदमें और श्रावकपदमें केवल अन्तर प्रगतिका है, श्रद्धामें अन्तर नहीं है। गृहस्थ और साधु दोनोंके मुक्तिमार्गके निर्णयमें भी अन्तर नहीं है। मार्गपर चलनेमें अन्तर है। साधुके भी यह निर्णय है कि इस शुद्ध चैतन्यस्वभाव पर दृष्टि जितनी दृढ़ हो सके उतना कल्याण होगा। वही मुक्तिका उपाय है। तो गृहस्थोंके भी यह निर्णय है, पर गृहस्थोंके पास जितना समागम है उसके अनुसार अपने आत्मा पर वात्सल्य करते हैं और साधुजन अपने समागम के अनुसार अपने आत्मासे वात्सल्य करते हैं।

प्रगतिभेद होनेपर भी श्रद्धाकी समानता— जैसे जंगलमें गायें चरने जाती हैं और शामको अपने घर वापस आती हैं तो उछलती कूदती हुई वापस आती हैं। अपने बछड़ेके वात्सल्यके कारण अपनी पूछ उठाकर दौड़ती हुई आती हैं। तो जिस गायके जैसी पूँछ है वह उस प्रकार हिलाती हुई आती है। जिस गायकी पूँछ कटी है वह अपनी उतनी ही पूँछ हिलाती हुई आती है। तो यहां तो परिस्थितिका भेद हो गया पर श्रद्धा और निर्णय साधुका और श्रावकका एक है। अब बतलावो घरमें रह रहे हैं, चार आदमियोंके बीचमें रह रहे हैं कमाये बिना गुजारा नहीं चलता है। कमाना पड़ता है। जब कमाने की बात उनके साथ है तो उन्हें और प्रकारके विकल्पोंमें भी लगना पड़ता है। कुछ न कुछ उन विकल्पों को हटाना भी आवश्यक समझ रहे हैं, इसीसे तो मंदिरमें आते, ध्यान लगाते, स्वाध्याय करते। तो गृहस्थीके पदमें गृहस्थीकी जैसी बात है, पर उन गृहस्थोंके भी ज्ञानमें यह निर्णय बना हुआ है कि मुक्तिका उपाय है तो

वह शुद्धचैतन्यस्वरूका आलम्बन ही है।

अध्यवसानमें नानात्मकता— इस जीवने अध्यवसानके वशीभूत होकर अपने को न जानें क्या-क्या नहीं बना डाला ? ऐसा कुछ भी नहीं है जिस रूप यह आत्मा अध्यवसानसे अपने को न बनाता हो। मनुष्य-मनुष्य तो सब एक किस्मके हैं। पर मनुष्योंके भावोंमें अपने आपके निर्णयके सम्बन्धमें जुदा जुदा ख्याल है। कोई सोचता है कि मैं गरीब हूं, कोई सोचता है कि मैं धनी हूं। अरे कपड़ेके अन्दर जो शरीर है वह तो एकसा है। किसी ने चिकने चापड़े कपड़े पहिन लिए तो वह अपने को मानता है कि मैं धनी हूं और किसीने रद्दी सद्दी ही कपड़े पहिन लिए तो वह मानता है कि मैं गरीब हूं। सोचनेसे ही तो यह काम बन गया। परिस्थितिके कारण धनी नहीं, गरीब नहीं, पर बाहरी विकल्प ही बनाकर अपनेको धनी अथवा गरीब बना लिया।

शान्तिका उद्यम— अच्छा बतलावो कि धनी होकर क्या करना है ? शांति प्राप्त करना है। अरे तो उस धनका त्याग करके ही क्यों नहीं शांति प्राप्त करते हो ? तो इस जीवने अपने आपमें अनेक विकल्प करके न जाने किस-किस रूप बना डाला है ? यह इन विकल्पोंसे हटता नहीं है, विकल्प किए जा रहा है। तो इस प्रकरणमें यह शिक्षा दी जा रही है कि भाई विकल्पोंसे कुछ विश्राम तो करो। विकल्प-विकल्पमें ही रहकर आज तक कुछ न पाया और न कुछ पाया जा सकता है, केवल एक अपना पराश्रित परिणमन बनाते चले जा रहे हैं। और जैसे-जैसे विकल्प होते जाते हैं वैसे-वैसे ही बंधन बढ़ता चला जाता है। इन विकल्पोंका काम केवल अशांति उत्पन्न करना है। शांतिका तो उपाय जैसा शुद्ध सहज केवल अपने आपका यह आत्मा जिस स्वरूपको लिए हुए है उस स्वरूपके दर्शन करना, उसके उन्मुख होना है।

ज्ञातृत्वके यत्नसे ही लाभ— पुराणोंमें कितनी जगह चर्चाएं हैं, इन बातोंको बतानेकी कि सोचें कुछ और होता कुछ और। अपने जीवनमें ही रोज रोज देख लो। तो जब हमारे विकल्पोंके अनुसार बाह्यमें परिणमन हो ही नहीं सकता ऐसा निर्णय है तो फिर हमें उस बाह्यका ख्याल ही न रहे, ऐसा यत्न करें। जो होता हो, हो। उसके हम ज्ञातामात्र रहें। हमारा तो काम जानने भरका है। जो केवल ज्ञाता रहता है वह आकुलित नहीं होता है और जो किसी बीचमें पड़ता है उसको आकुलता होती ही है। जैसे कोई कमेटी हो और उसके तुम्हें केवल दर्शक हो तो तुम देखते सिर्फ जा रहे हो, कोई आकुलता तुम्हें नहीं रहती है और जो कमेटीके सदस्य

हो गए तो कुछ न कुछ आकुलित हो जावेगी। और कहीं उस कमेटीके अधिकारी बना दिए गए तो समझो आकुलता और बढ़ जायेगी। तो जैसे-जैसे अध्यवसान बढ़ता जाता है वैसे-वैसे इस जीवके साथ आकुलता बढ़ती जाती है। इस कारण इस बात पर ऋषिजन जोर देते हैं कि हे आत्मन् ! तू अपने आपके स्वभाव को अविनाशी जानकर, केवल ज्ञान-स्वरूप जानकर बाह्य प्रयत्नोंसे उपेक्षा कर। इनमें राग मत कर। इनमें ममत्व बुद्धि न कर।

कर्मक्षयका उपाय— भैया ! ये विकार निमित्त पाकर होते हैं, ये अपने स्वभावकी चीजें नहीं हैं। ऐसा यह ज्ञानी पुरुष अपने आपको देखता है और शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप सामान्य प्रतिभासमय अपने आपके स्वरूप को निरखते हुए कर्मोंका क्षय करता है। कर्मोंका हम क्षय करें ऐसी बुद्धि से एक भी कर्म न हटेगा, पर कर्म जिस कारणसे बंधे हैं उन कारणोंको दूर कर दें तो वे कर्म अपने आप समाप्त हो जायेंगे। कर्म आते हैं विकल्पोंसे। हम विकल्प तोड़कर निर्विकल्प आत्मस्वभावका आश्रय करें तो कर्म अपने आप झड़ जायेंगे। निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी जीवके कारण कर्मोंका कुछ होनेके लिए नहीं है या कर्मोंके कारण जीवका कुछ होनेके लिए नहीं है, अतः ऐसा ही मान लो यही उपेक्षाका उपाय है।

स्वपरिणामसे ही बन्ध मोक्षकी व्यवस्था— यहां यह बतलाया जा रहा है कि जीव कर्मोंसे बँधता है तो अपने ममत्व रागादिक अध्यवसान परिणामोंके निमित्तको पाकर बँधता है और छूटता है। कर्मोंसे तो अपने मोक्षमार्गमें स्थित होकर छूटता है। मोक्षमार्ग है शुद्ध आत्माका सम्यक् श्रद्धान होना और उसही का ज्ञान होना व उसही का आचरण होना। ऐसे निश्चयरत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमें स्थित होकर वह स्वयंकी परिणतिसे छूटता है। जब ऐसा नियम है कि वह बँधता और छूटता अपने परि-णामोंसे ही है तो हे बहिरात्मन् ! बतलावो तू ने उसमें क्या किया ? तुम्हारा यह अध्यवसान ठीक नहीं है। जितने भी जीव दुःखी होते हैं वे अपने परिणमनसे दुःखी होते हैं, तुम्हारे किए से दुःखी नहीं होते हैं। अंतरंग निमित्त उनका कर्मोंका उदय है, तुम तो उनके निमित्त भी नहीं होते, केवल आश्रयभूत होते। सो जब वे जीव अपने ही पापके उदयसे दुःखी होते हैं तो तुमने उनमें क्या किया ? तुम उनका क्या कर सकते हो यदि उनके पाप कर्मोंका उदय न हो तो।

पाप और पुण्यका उदय— पाप उसे कहते हैं जो अशुभ परिणाम है और पापका उदय उसे कहते हैं जो अपना इष्ट हो और वह न मिले

या वह बिछुड़ जाय, इसको कहते हैं पापका उदय। या जो अपने को अनिष्ट हो अर्थात् किसी इष्ट पदार्थका बाधक हो उसका संयोग हो जाय तो उसे कहते हैं पापका उदय। किसी मनुष्य को कोई बहुत तेज पेटकी पीड़ा हो गयी और दिलका भी बहुत आक्रमण हो रहा है और उससे कोई आकर कहे कि आज तुम्हारे एक लाख रुपयेकी आय हुई है तो वह इतनी बातको सुनकर सुखी होगा क्या? वह तो यह चाहेगा कि चाहे १० लाख और चले जायें पर मेरे दिलका और पेट दर्दका आराम होना चाहिए। उस समय यदि कोई अनुकूल औषधि मिल जाय तो उसके पुण्यका उदय कहा जायेगा।

इष्टानिष्ट लाभालाभसे ही पुण्यपापोदयकी प्रसिद्धि-- संसारमें बहुतसे पदार्थ पड़े हुए हैं, उनके पड़े रहनेसे पुण्य पापका निर्णय तो नहीं होता किन्तु अपने आपका जो इष्ट है उसकी प्राप्ति हो तो पुण्यका उदय कहलाता है और अलाभ हो या वियोग हो तो पापका उदय है। जिसे आप अनिष्ट समझते हैं उससे यदि आपको कुछ प्राप्ति हो जाय तो उसे आप पापका उदय कहेंगे या पुण्यका उदय कहेंगे? उसे पुण्यका उदय कहेंगे। जो चीज जिसको है वह यदि मिल जाय तो वह पुण्यका उदय है। तो पुण्यका उदय तब कहलाता है जब कोई पुण्यकी चीज मिले और पापका उदय तब कहलाता है जब कोई इष्टकी चीज न मिले। अब इसी धारणाके अनुसार सब जगह घटा लो।

इष्टानिष्ट भावका उदाहरण--बड़े-बड़े लीडर लोग जेलमें गए गांधी जी वगैरह तो क्या हमें यह सोचना चाहिए कि उनके पापका उदय था सो वे जेलमें गए। जो भी बात अनिष्ट हो और वह मिले तो समझो कि पापका उदय है। तब उनसे पूछते हैं कि माफी मांग लो तो तुम्हें जेलसे मुक्त कर दें। ए क्लास देते हैं, नौकर देते हैं, मनमाना भोजन करो, बाहर से मँगाकर खा लो, जहां सारी सुविधाएँ हैं तथा उनसे पूछा जाता कि माफी मांग लो तो तुम्हें जेलसे मुक्त कर दें, फिर भी नहीं मांगते। तो हम कैसे मानें कि अनिष्ट चीज मिलने रूप उनके पापका उदय है। इसलिए पुण्यके उदयकी व्याख्या यह है कि इष्ट चीज मिले तो उसे पुण्य मानेंगे और इष्ट चीज न मिले तो उसे पाप मानेंगे।

कर्तृत्वबुद्धि बन्धनकी नियमितता— यह जीव अपने आपके पापके उदयसे ही दुःखी होता है, इसे दूसरा कोई दुःख दे नहीं सकता है। तो हे बहिरात्मन्! तू अपने परिणामोंसे यह निकाल दे कि मैं दूसरेको दुःखी करता हूं। जब तू दूसरेको पुण्य पाप दे नहीं सकता तो हे बहिरात्मन्! तू

अपने अध्यवसानको निकाल दे कि मैं दूसरेको दुःखी सुखी करने वाला हूं। जहां कर्तृत्व बुद्धि होती है वहां पर बंध ही चला करता है।

तीर्थंकरप्रकृतिबन्धका हेतु- तीर्थंकरोंके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध कर्तृत्व बुद्धिसे नहीं हुआ किन्तु करुणा बुद्धिसे हुआ। उन्होंने पूर्वभवमें इस प्रकार का ज्ञान किया था कि देखो ये संसारी जीव हैं तो सुखके निधान, पर अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि न करके दुःखी हो रहे हैं। इनकी श्रद्धा पलटे और अपने आपके परमात्मतत्त्वको निरखें तो ये सुखी होंगे। इस प्रकार की भावना की थी। यह भावना न की थी कि मैं सब जीवोंको मोक्ष पहुंचाऊँगा, इस प्रकारके कर्तृत्वका अध्यवसान न किया था। परपदार्थोंके कर्तृत्वका अध्यवसान अज्ञान बुद्धि है मिथ्यात्व बुद्धि है। तीर्थंकरके करुणा बुद्धि जगी थी। जरा सी बात है। जो दृष्टि बाहरमें फेंकी जा रही है वह अपने अन्तरमें करनेकी बात है। इन जीवोंकी दृष्टि अपने आपकी ओर हो जाय, इनके समस्त दुःख दूर हो जायें ऐसी भावना की थी, तो उस भावनाके परिणाममें और अन्य सब बातें अनुकूल होने पर उनके तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ था और जब तेरहवें गुणस्थानमें तीर्थंकर प्रकृतिका उदय आया तो स्वयं ही सारे कर्म खिर गए।

परपरिणतिमें अन्यके काय व वचनकी चेष्टाकी व्यर्थता-- हे बहिरात्मन्! तुम्हारी यह बुद्धि मिथ्या है जो इन जीवोंको मनसे, वचनसे कायसे और अन्य साधनोंसे दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं। उनका स्वयं उदय है उनके अनुकूल ये सब क्रियाकलाप मिलते हैं। इस प्रकार जब जीवके सुख दुःख अपने कर्मोदयसे होते हैं तो देखो ना, मैंने शरीरसे ऐसी चेष्टा की कि उन्हें दुःखी कर दिया ऐसी बुद्धि क्यों करते हो? प्रथम तो उनका जो दुःख परिणमन है वह उनके अज्ञान भावके कारण है। उपादान दृष्टिसे और निमित्तदृष्टिसे उनके कर्मोंका जो उदय चल रहा है उस निमित्तसे उनका वह परिणमन है। पर अन्य सब बाह्य पदार्थ तो उनके कर्मोदयके नोकर्म बनने चाहिएँ। इसे निमित्त नहीं कहा। तो वचनोंसे भी सोचना कि देखो मैंने खूब डाटा, अक्ल ठिकाने लगा दिया, मैंने उसको खूब दण्ड दिया, दुःखी किया, ऐसा अहंकार क्यों करते हो? उसका निमित्त तो पापका उदय है। क्यों व्यर्थमें अपध्यान करके अपना बंधन बांध रहे हो?

परपरिणतिमें अन्यके मन व इतर साधनोंकी चेष्टाकी व्यर्थता-- जब यह जीव स्वयंकी करतूतसे दुःखी होता है तो फिर यह सोचना मिथ्या है जैसा कि लोग सोचते हैं कि मैं इसको दुःखी करता हूं मेरे मनमें

आयेगा तो फिर इसका गुजारा नहीं चल सकता है। मैं चाहूंगा तब उस का दुःख मिटा सकता हूं। मैं जब चाहूंगा तब इसे सुख मिल सकेगा। ऐसा अपने मनमें दूसरेके दुःखी सुखी करनेका भाव लाना यह भी मिथ्या है। मैं धन संचय कर अथवा लाठी आदि शस्त्रोंसे या अन्य शब्दोंसे मैं दूसरे जीवको दुःखी कर सकता हूं, ऐसा भाव करना यह भी मिथ्यापरिणाम है। तो जब समस्त जीव सुखी दुःखी तुम्हारे परिणामोंसे नहीं होते तब फिर यह अपध्यान भी तुम्हें छोड़ना चाहिए। परके विषयमें कुछ भी चिंतन करना यह अपनी दृष्टिसे हटा देने वाली बात है।

स्वभावाश्रयकी आवश्यकता— सो भैया! उचित बात तो यह है कि किसी भी परका ध्यान न हो, मगर यह उपादान इस योग्य नहीं है कि आज सबका ध्यान मिटा दे। तो उपदेश यह देते हैं कि अपनी भलाईके लिए ऐसा ध्यान बनावो कि जिसमें कुमार्गकी बात न आए। इस प्रकार खूब निर्णय कर लो कि हमारा परिणाम परपदार्थोंमें काम करने वाला नहीं है, अर्थक्रिया करने वाला नहीं है किन्तु जो शुद्ध ज्योति स्वभाव परमचैतन्यमात्र है, स्वयंके स्वरूपके अन्य उपरागोंसे रहित है उस रूप अपनी श्रद्धा नहीं कर रहे हो, तुम उसी रूपसे अपने आपको नहीं भा रहे हो तो शुभ और अशुभ परिणाम करके केवल पुण्यका ही बंध करते हो। मोक्षका मार्ग रत्नत्रयसे मिलता है। निज शुद्ध आत्मतत्त्वका श्रद्धान हो, शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान हो, और शुद्ध आत्मतत्त्वका आचरण हो तो इस रीतिसे मोक्षका मार्ग प्राप्त होता है।

मनको शिवकारी कार्योंमें लगाना— भैया! परके विषयमें कुछ करनेके परिणाममें मुक्तिका मार्ग नहीं प्राप्त होता है। तो फिर परके बारे में सोचना सब निष्फल है ना, सोचते कुछ हैं होता कुछ है। रात दिन अपने लिए प्रगतिके प्रोग्राम बनाते रहते हैं। मन खाली नहीं बैठता। इस मनको निरन्तर अच्छे कामोंमें लगानेकी आवश्यकता है। पूजा करें, स्वाध्याय करें, ध्यान करें, सत्संगतिमें रहें, अच्छे पुरुषोंके समीप बैठें, ये सब काम करने की जरूरत है, नहीं तो इस कमजोर हालतमें दुष्टसंग मिल जाय, विषय साधनका प्रकरण मिल जाय तो यह अपनी शुद्ध दृष्टि से च्युत होकर कुमार्गमें लग सकता है।

भाई! इस निष्फल अध्यवसानसे मलिन होकर ही यह सारा संसार अपनेको नानारूप अनुभवता है। क्या-क्या रिश्ता इस जीवने नहीं माना मैं पिता हूं, साला हूं, बहनोई हूं, अमुक हूं, कितनी प्रकारसे यह अपने आपमें श्रद्धान कर रहा है और यह नहीं समझता कि मैं तो सर्व जीवोंके

समान एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, ऐसा अपने आपको न जाना। यह जीव अपनेको कैसा समझना है ? इस विषयमें दो गाथावों को कहेंगे। जिसमें प्रथम यह बता रहे हैं कि कर्मविपाकोदयोंमें अपनेको यह कैसा कैसा प्रतीत करता है।

सव्वेकरेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरइये।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥

अध्यवसानसे अपना विचित्र निर्माण— यह जीव अपने विकल्प परिणामोंसे तिर्यञ्च, नारकी, देव, मनुष्य, पुण्य, पाप, नाना रूप अपने को मानता है। इसमें बहुत सूक्ष्म दृष्टिसे यह सोचना है कि इन जीवोंने अपने परिणामोंसे अपनेको तिर्यञ्च बनाया, अपने ही परिणामोंसे अपने को मनुष्य बनाया। इसको दो दृष्टियोंसे सोचो। प्रथम तो स्थूल दृष्टिसे ऐसा है कि इस जीवने उस प्रकारका परिणाम किया जिस प्रकारके परिणामोंके निमित्तसे तिर्यञ्च या मनुष्य आयुका बंध हुआ और उदयमें तिर्यञ्च और मनुष्य बन गए।

मनुष्यत्वके अध्यवसानसे ही मनुष्यत्व— सूक्ष्मदृष्टिसे अब सोचिए कि मनुष्य भी है यह जीव और साधु अवस्था हो गयी। बहुत उच्च ज्ञान की अवस्था हो गयी। वह सम्यक् ज्ञानसे निरन्तर अपने को शुद्ध चैतन्यस्वरूप अनुभव करता है। अपने को अमूर्तिक ज्ञानानंद स्वभावमात्र निरखता है तो वह मनुष्य अब नहीं है। मनुष्य होते हुए भी मनुष्य नहीं है। बाहरमें लोगोंको दिखता है कि यह मनुष्य है, और परिणमन पद्धतिसे भी वह मनुष्य व्यञ्जनपर्याय है, इतने पर भी यदि वह अपने अनुभवमें अपने उपयोगमें एक शुद्ध ज्ञायकमात्रका अनुभव कर रहा है तो उसके अनुभवमें वह मनुष्य नहीं है किन्तु वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। इसने इस उपयोगात्मक चैतन्य पदार्थ अपने को मनुष्य बनाया तो अध्यवसान परिणामसे बनाया, मनुष्य होते हुए भी मनुष्यरूप संस्कार न रहें, अनुभव न रहे, ऐसा विशिष्ट भेदविज्ञान जगे, ऐसा अनुपम, उच्च ज्ञान बन रहा हो कि वह अपने को अमूर्त चैतन्य प्रकाशमात्र अनुभव कर रहा हो तब वह मनुष्य नहीं है। हम अपने उपयोगरूप परिणमते, अन्य चैतन्यपदार्थ अपने उपयोगरूप परिणमते, तो इस जीवने अपने अध्यवसानसे ही अपने को नाना रूप बनाया।

वैज्ञानिक पद्धति व आध्यात्मिकपद्धतिसे निर्माण— यह बात दो पद्धतियों में कही जा रही है। एक तो स्थूल पद्धति या वैज्ञानिक पद्धति और एक सूक्ष्म पद्धति। जो वैज्ञानिक पद्धति है उसमें द्रव्य-द्रव्यके सम्बन्ध

से निमित्तनैमित्तिक भावसे जो बात हो रही है एक उस निगाहकी बात है। अब इस निगाहसे देखो कि यह जीव ज्ञानस्वरूप है और रूप नहीं है, बाहरी किसी पदार्थके सम्बन्धसे इस जीवको भला होते भी नहीं दिखता। जीवका जो असाधारण स्वभाव है उस स्वभावमात्रसे जीव-जीवको देखो और यह क्या कर रहा है और यह जीव इस समय क्या है ऐसा निर्णय करो जो जीव अपने उपयोगमें, अपने अनुभवमें ज्ञान ज्योतिमात्र आत्मस्वरूपको ही देख रहा, अनुभव कर रहा है वह आत्मा तो आत्मा है, मनुष्य नहीं है। अन्य कोई संज्ञी जीव नहीं है, पर ऐसा कभी होता है। विरले महात्मावोंको ही यह बात होती है।

अध्यवसानके अनुभव— साधारणतया तो सभी जीव निरन्तर अपने आपके किसी न किसी विषयमें किसी न किसी अवस्था रूप मानते चले जा रहे हैं। तिर्यञ्च हो, बैल है, घोड़ा है, ये अपनेको उसही रूपसे बराबर मानते हैं जैसे कि यह मनुष्य प्रायः रात दिन यह बात अपने उपयोगमें बैठाये है कि मैं इन्सान हूं। अरे यह जीव इन्सान है कहां? यह जीव तो चैतन्यस्वरूपमात्र है, भीतरी उपयोगकी दृष्टिमें बात की जा रही है। यह तो ज्ञानमात्र एक चैतन्यपदार्थ है। यदि यह इन्सान हो तो निरन्तर इसे इन्सान बने रहना चाहिए। मिट क्यों जाता है? ये पशु कहां हैं? यदि ये जीव पशु होते तो निरन्तर पशु ही बने रहते। यह जीव के असाधारण ज्ञानस्वभावकी ओरसे बात कही जा रही है।

अपनी प्रतीतिकी पद्धतिके अनुसार अनुभवन— भैया! जिसके अनुभवमें चैतन्यात्मक निज तत्त्व ही है उसके लिए तो यह आत्मा है। न देव है, न मनुष्य है, न तिर्यञ्च है, न नारकी है और विज्ञान पद्धतिसे बताया जाय तो हां है तो मनुष्य, है तो तिर्यंच किन्तु कोई ज्ञानी पुरुष अपने आपमें जो अनुभव कर रहा हो उसीका तो आनन्द लेगा। जो अपने को 'मैं मात्र चैतन्यस्वरूप हूं' ऐसा अनुभवमें ले रहा है उसको सहज आनन्दका अनुभव होगा। जो अपने को मैं अमुक हूं, पिता हूं, रक्षक हूं, इस प्रकारका अनुभवमें ले रहा है उसको आकुलताका अनुभव होगा। अपने आपको जिस प्रकारका मान लेता है उस प्रकारका उसे अपना अनुभव होता है। अपने उपयोगमें जैसा जीवने अपने को माना उसके लिए तो वह है। बाहरमें क्या स्थिति आ गयी है, यह तो विज्ञान पद्धति को बात है। निमित्तनैमित्तिक कर्मवश जीवोंका बंधन होता है, पर अन्तरमें जैसा अपने को मानता उस रूपसे ही स्वाद लेता है।

स्वरसस्वादकी प्रेरणा— यह जीव अपनेको चेतन द्रव्यरूपसे

अनुभवता है तो अनाकुलताका स्वाद लेता है। बाहरी वस्तुवोंमें हम चाहे शुभ रूपसे पर्यायमें एकता रखें या अशुभरूपसे पर्यायमें एकता रखें, पर परिणमनमें जो भी रखकर विचार होता है वह विचार किसी न किसी क्षोभको उत्पन्न करता हुआ होता है। यहां भेदविज्ञानमें यही तो बताया गया है कि तू सबसे भिन्न केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अपने को जान। सबसे भिन्न मैं क्या ? ये समस्त जड़ वैभव पुद्गल उनसे भिन्न सबसे न्यारा, कुटुम्ब आदिकसे न्यारा, कर्मोंसे न्यारा और अपने आपमें जो भाव उत्पन्न होते हैं उन विभाव रागद्वेषादिकसे न्यारा और विभावोंकी जो परिणतिरूप क्रिया है उससे न्यारा ऐसा शुद्ध ध्रुव अहेतुक चैतन्यस्वभावमात्र अपने को निरखो, जो होना है होगा, पर तू तो अन्तरमें एक चैतन्यस्वभावमात्र अपने आपको निरख।

अध्यवसानसे हिंसकत्व-- यह जीव अज्ञानतावश अपने को हिंसक बना लेता है। यदि बेहोशीमें या सोती हुई हालतमें हाथ उठ गया और वह जीव मर गया तो ऐसी अवस्थामें उसे व्यवहारमें किसने हत्यारा कहा है ? या साधुपुरुष अपनी सावधानी सहित समितिपूर्वक गमन कर रहे हैं और कोई कुन्थु जीव उनके पैरोंके नीचे आकर मर गया है ता उन साधुवों को किसने हिंसक कहा है ? जो जीव हिंसाके परिणाम करे—मैं इसको यों कर दूं ऐसा हिंसाका अध्यवसान करे उससे जीव न भी मरे तब भी वह हिंसक है। क्योंकि उसको हिंसाके कार्यमें एकता आ गयी है कि मैं यों करने वाला हूं।

अज्ञानमें उलझनें-- ममत्वमें अहंत्वमें अज्ञानमें इस जीवको अपने सुलझनेका मार्ग नहीं सूझता। फिर उसे कैसे आनन्द प्राप्त हो सकता है ? आनन्द प्राप्त करनेका उपाय इस जीवके अज्ञानमें नहीं है। वे तो जानते हैं कि धन संचय कर लें, इतना कार्य कर लें, इतना परिग्रह बढ़ालें तो अपने को शांति हो जायेगी, वे तो यह सोचते हैं। तो जो क्रिया भरे हिंसामय अध्यवसानसे अपने को मलिन करता है तो वह अपने आपका ही हिंसक बन गया। कोई दूसरा जीव किसी दूसरे जीवको हिंसक बना सकता है क्या ? नहीं। वह ही अपना बुरा परिणाम करे तो अपने आप का हिंसक है। तो जैसे उस जीवने अपने आपके परिणामसे अपनेको हिंसक बनाया और अपने आपके दया भरे परिणामसे अपनेको दयालु बनाया, इसी तरह समझना चाहिए कि जो विपाकमें आई हुई नारक आदिक पर्यायें हैं उनमें अध्यवसान साथ-साथ चल रहा है।

मनुष्य होकर भी अध्यात्मदृष्टिमें प्रभुताकी अनुभूति-- मनुष्य हैं

हम आप ठीक हैं, खूब देख लो। शरीर मनुष्यका है। मनुष्य जैसा ढाल चाल है, खान पान मनुष्य जैसा है। मनुष्य होकर भी यदि आप किसी क्षण अपने शरीरको ही भूल जाएँ, इसका भी ध्यान न रहे, और एक शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही अनुभवमें आए तो आपके लिए आपकी ओरसे क्या आप मनुष्य हैं ? नहीं हैं। आपके उपयोगकी ओरसे आपके लिए उस क्षणमें आप मनुष्य नहीं किन्तु जिस रूपमें आपका अनुभव रहता है उस रूप हैं आप--चैतन्यस्वरूप मात्र।

आत्मतत्वके अनुभवका पुरुषार्थ-- देखो भैया ! रात दिन तो आप अपनेको मनुष्य ही मनुष्य तो समझते चले जा रहे हैं। किसी क्षण तो आप अपने चित् प्रकाशमात्र आत्मतत्त्वका अनुभव तो करें। चाहे आप दुकानमें हों, घरमें हों, मंदिरमें हों, किसी भी जगह हों, अपने चित्स्वरूप में आपका चित्त निर्भर हो जाय, ऐसा ध्यान हो जाय कि मैं मनुष्य नहीं हूं। बड़े-बड़े योगी पुरुष और कौनसी साधना करते हैं ? यही साधना करते हैं। कहां मैं मनुष्य हूं, पिता हूं, अमुक हूं, अध्यवसान नहीं ठहर सकते हैं। इसलिए ज्ञान शुद्ध करके अपने अन्तरमें ऐसा ध्यान जगाना है कि जिससे हम यह भूल जायें कि मैं मनुष्य हूं, और यह उपयोगमें रहे कि मैं जाज्वल्यमान चैतन्य चित् प्रकाशमात्र एक शुद्ध स्वरूप हूं, ऐसा क्षण कभी मिले तो वह क्षण धन्य हैं। तब वह न गृहस्थ है, न योगी है, वह तो अपना आत्मस्वरूप मात्र है।

अध्यवसानोंसे अपना विचित्र स्रष्टा— यहां यह प्रकरण चल रहा है कि जीव अपने अध्यवसानसे अपनेको नानारूप बनाता है। इस प्रकरण में सूक्ष्म दृष्टिसे विवेचना चल रही है। इसने मनुष्य का देह धारण किया इसलिए यह मनुष्य है ऐसा नहीं कह रहे हैं, किन्तु इस जीवके उपयोगमें मनुष्यत्वका विकल्प है इसलिए यह मनुष्य है। यह सब दृष्टियोंका अलग अलग वैभव है। जैसे हिंसक किसे कहते हैं ? जो हाथ पैर पीटे या कोई परिश्रम करे उसे हिंसक नहीं कहते, किन्तु मैं मारता हूं आदिक क्रियावोंसे गर्भित हिंसाका परिणाम जिसका बना हो उसे हिंसक कहते हैं। तो जैसे अध्यवसान परिणामके द्वारा यह जीव अपनेको हिंसक बनाता है, क्रिया गर्भित असत्य आदिक अध्यवसानोंके द्वारा अपनेको झूठा आदि बनाता है इसी तरह यह जीव अपने को कर्मविपाकमें आए हुए अध्यवसानोंके कारण नारक बनाता है।

अध्यवसानका निश्चयसे सर्जन-- यहां बात अध्यात्मदृष्टिसे यह चल रही है कि इस मनुष्य-शरीरमें होनेसे यह मनुष्य है, ऐसी बात नहीं

है किन्तु मनुष्यपनेका इसमें निरन्तर अध्यवसान बना रहता है कि यह अपनेको मनुष्य मानता है अतः मनुष्य है। यद्यपि यह भी बात सही है कि मनुष्यका शरीर मिला इसलिए मनुष्य है पर यहां निगाहकी इतनी पैनी दृष्टि वर्ती जा रही है कि भीतर केवल आत्माको ही देख रहे हैं। शरीर पर दृष्टि नहीं डाल रहे हैं। निश्चयसे ऐसा होता है कि केवल हम एक पदार्थ पर ही निगाह रखते हैं, तो जब हम जैसा भी यह अपने गुणमें परिणत है आत्मा पर दृष्टि दें और समझना चाहें कि यह मनुष्य है, नारकी है, क्या है, तो वहांसे उत्तर यह मिलेगा कि यह जीव जिस प्रकारका अपना अध्यवसान बना रहा हो वह जीव वह है। अध्यवसानका अर्थ है परिणाम कर रहे हैं।

अन्तर्दृष्टिके अनुरूप अनुभव-- मनुष्यकी देहमें रहकर कोई जीव पशुका अध्यवसान नहीं कर सकता है ऐसी ही स्थिति है और मनुष्यके शरीरमें रहकर यह जीव मनुष्यत्वका अपनायत करे और मनुष्यत्वका अपनायत न भी करे, ये दोनों बातें हो सकती हैं। पर मनुष्य होकर पशु का परिणाम करे यह बात नहीं हो सकती है। तो भी मनुष्य है कोई और आत्माके अनुभवमें जुटा है तो उसको तो मनुष्यका विकल्प ही नहीं है कि मैं मनुष्य हूं। वह ज्ञानीयोगी पुरुष अनुभवमें मनुष्यत्वका विकल्प नहीं करता है इस लिए वह मनुष्य नहीं है, वह तो आत्मा है। इस जीवके अन्तरमें जैसे आशयरूप दृष्टि होती है उस जीवको उस रूप कहा जाता है और केवल मनुष्यकी ही बात नहीं, नारकी जीव हैं वे अशुभ विक्रियाके शरीरमें रहते हैं, रहो। वैज्ञानिक पद्धतिसे और व्यवहार दृष्टिसे यह उत्तर है कि यह अशुभ देहमें रहता है, यह नारकी है और अध्यात्मदृष्टिसे आत्माकी ओरसे यह उत्तर है कि मैं नारकी हूं, इस प्रकारकी प्रतीतिमें बने रहते हैं इसलिए नारकी हैं। इनकी दृष्टियोंके दो उत्तर हैं।

बाह्यदृष्टिमें विपच्यमानका अनुभव— पशु पर्यायमें रहते हुए पशु अपने आपमें पशुताकी प्रतीति बनाए रहते हैं। जिस रूपकी प्रतीति बनाए उस रूप यह जीव अपनेको करता है। तो यह जो अध्यवसान है जैसा कि पहिले यह वर्णन चल रहा था कि मैं दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, यह अध्यवसान निष्फल है, क्योंकि मैं दूसरेको दुखी करनेका आशय बनाता हूं और दूसरा दुखी नहीं होता, दूसरे को सुखी करनेका आशय बनाता हूं तो दूसरा सुखी नहीं होता तो हम निष्फल हो गए ना। जो उस विकल्प का विषय बनाया था बाहरमें सो उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। इसलिए यह भी अध्यवसान है कि इन परिणामोंके कारण यह जीव अपनेको नाना रूप

बना रहा है। विपाकमें आया नरक भव। नरकगति उसे कहते हैं कि जिसके उदयसे इस जीवके नरकगतिके योग्य भाव हुआ। होता है। नारकी जीव है, किन्तु वह या तो अपनेको नारकी रूपमें मानेगा या चैतन्यप्रकाश के रूपमें मानेगा, वह मनुष्यके रूपमें मान ले ऐसा नहीं हो सकता है।

इच्छानुभव न होकर विपाकानुभव—नारकी जीव मनुष्य होना चाहते हैं, देव होना चाहते हैं इस कारण वे मनुष्यरूप अपनेको मान सकें ऐसा नहीं हो सकता। वे तो जैसा उदय चल रहा है, जैसा विपाक हो रहा है वैसा मानेंगे। हां यह हो सकता है कि किसी क्षण अपनेमें नारकी का अनुभव न हो। नारकी होते हुए भी स्वानुभवके अनुकूल अपने आपको अनुभव कर रहे हैं, वे अपनेको शुद्ध चैतन्यस्वरूप मान रहे हैं। अनुभव कर रहे हैं, मैं नारकी हूं ऐसा विकल्प नहीं रहता है। सम्यग्दृष्टि जितने भी नारकी हों या तिर्यञ्च हों या मनुष्य हों या देव हों, जो अपनेमें आत्मानुभव कर रहे हों तो उस स्वरूपमें यह प्रतीति नहीं रखते कि मैं मनुष्य हूं, मैं नारकी हूं। वहां तो एक चिदानन्दघन आत्मतत्त्वकी ही प्रतीति है और अनुभूति है। तो यहां यह बतला रहे हैं कि अध्यवसानके द्वारा यह जीव अपने आपको नानारूप बना रहा है।

कल्याणका उपाय—भैया! कल्याणका उपाय तो आत्मस्वरूपकी दृष्टि है, और विज्ञानमें ये सब बातें सिद्ध हैं कि अमुक निमित्तको पाकर अमुक जगह यह काम बना। यह बात है, उसका तो विरोध नहीं करना है, किन्तु उस सम्बन्धको अपने उपयोगमें, दिमागमें बसाये रहना, यह कल्याण की बात नहीं है। जान लिया है, निमित्तनैमित्तक सम्बन्ध है, पर जीव अपनी दृष्टिसे चिगकर और उस निमित्तभूत परकी घोषणामें समर्थपना दृढ़ करते रहनेके यत्नमें और उसकी ही बात करते रहनेमें चित्त लगाये यह समयका सदुपयोग नहीं है। समयका सदुपयोग यह है कि अपना जो सहज स्वरूप है, शुद्ध विपाक है उसके जाननेकी कोशिश होना, उसही में अपनेको संतोष कर रत रहना, यही है समयका सदुपयोग। क्योंकि अंतमें शरण इस आत्माका आत्मा ही है।

निमित्त जाननेका प्रयोजन—निमित्त जाननेका प्रयोजन तो इतना भर है कि मुझे विकारोंमें प्रेम न जगे। विकार मैं हूं, रागद्वेष मैं हूं, ऐसा भ्रम न रहे, उस भ्रमको मेटने के लिए यह बताया जाता है जैसा कि यथार्थ है कि ये रागद्वेष विकार कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं, तेरी चीज नहीं हैं। इनमें आसक्त मत हो। ऐसा समझानेके लिए निमित्तका वर्णन है न कि निमित्तकी दृष्टि बनाना, निमित्तका पोषण करना, निमित्तकी चर्चा

करने से किसीको संतोष हुआ हो तो बतलावो। जिसको संतोष होगा उसको अपने आत्माकी उन्मुखतामें संतोष होगा। निमित्तकी उन्मुखतामें शांति न होगी।

किसी एक पक्षके ग्रहणकी अश्रेयस्करता— भैया! कल्याणकी एक जो सामान्य स्थिति थी वह आज कलके आन्दोलनके पहिले विशुद्ध थी। कैसी विशुद्ध थी? एक धारारूपसे चलती थी। हर एक मनुष्य पढ़ा लिखा विद्वान् समझदार था। गृहस्थ भी इतने समझदार थे कि कर्मोदयका निमित्त पाकर ये पर्यायें होती हैं इनमें संदेह न करते थे और सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र जो आत्मा है उसकी दृष्टि रखना ही शरण है यह पढ़ते थे। पर आज ऐसी तनातनीकी स्थिति हो गयी कि निश्चयकी बात कहना भी मंजूर नहीं। जो व्यवहारके पोषणमें अपना उपयोग लेते हैं और निश्चयके एकांतमें अपना उपयोग लगाते वे निमित्तकी रंच भी बात पुष्ट हो ऐसी बात नहीं कहते। बिगाड़ मेरी ख्यालसे दोनों जगह हुआ जो एक व्यावहारिक बिगाड़ है। वह कल्याणार्थी उत्तम है, गृहस्थ हो या विद्वान् हो जो खुले रूपमें किसी पक्षमें शामिल नहीं होना चाहता, क्योंकि पक्षमें शामिल होने का अर्थ यह है कि अपनी-अपनी रटे जावो और धुन बनाए जावो। उसका फिर अर्थ यही होगा। ऐसी कठिन स्थिति हो जायेगी कि प्रतिपक्षकी उपेक्षा हो जावेगी।

गतियोग्य भावके अनुभवसे गतिविशिष्टता— यहां यह बतला रहे हैं कि कर्मोंका उदय विपाकमें आता है, नरक आदिक रूप अध्यवसाय परिणाम होता है। उसके कारण इस आत्मामें अपनेको नारको बनाया। करणानुयोग की दृष्टिसे देखो तो नरक गतिका उदय नरककी भूमिमें पहुंचने से पहिले ही हो गया। अगर यह जीव यहां से मरकर नरकमें पैदा हो तो मरनेके बाद ही नरक गतिका उदय आ गया। पर यह बतला रहे हैं कि नरक गतिके उदयमें नरक जैसा भाव होता है शरीर नहीं मिला भाव उसका अबसे हो गया। उसका अन्तर चाहे एक या दो समय ही सही और वहां उत्पन्न होनेके बाद अपनेमें बस मैं नारकी हूं ऐसा न भी सोचे तो भी नारकीको जिस प्रकारका विचार बनना चाहिए उस प्रकारके विचारमें रहे। जिस समय जान रहे हैं उस समय तो ज्ञात है और न भी ज्ञात हो पर भोग तो रहा है।

पर्यायमें अहंकार— भैया! चाहे नहीं कोई जानता हो कि मैं नारकी हूं, पर भोग तो रहा है नारकका परिणमन। मिथ्यादृष्टि जीव होंगे वे अपनेको मैं हूं, मैं हूं, ऐसा तो जानते हैं पर मैं नारकी हूं ऐसा न जानते

होंगे। कितने ही जीव ऐसे हैं। जैसे इस मध्य लोकमें और दूसरे जीव न हों तो अपनेको मनुष्य कौन कहे? अरे पशु पक्षी ये सब जीव दिखते हैं तभी तो अपने को मनुष्य कहते हैं। तब तो मनुष्यका व्यवहार है। वहां तो नारकी ही नारकी हैं, दूसरे जीव दिखते ही नहीं, न पशु हैं, न पक्षी हैं, न मनुष्य हैं। तो जब दूसरे जीव नहीं दिखते हैं तो कितनों को तो यह भी पता नहीं कि मैं नारकी हूं। उन्हें तो यह पता है कि मैं इनमें यह हूं। जो भी शरीर मिला, जो भी पिण्ड मिला, मैं यह हूं। मैं यह हूं ऐसा उस पर्यायका अहंकार रहता है।

नारकी जीवोंकी प्रवर्तमान परिस्थिति-- वे नारकी जीव मनुष्य की तरह अंग वाले हैं, हाथ पैर आंख, जीभ, नाक, कान ये हैं तो, पर विरूप हैं। लम्बे कान, लम्बी नाक, बड़ी-बड़ी आंखें, और फिर उनमें विक्रिया है। उस विक्रिया बलसे किसी जीवको सतानेके लिए सिंह बन जायें। शरीर वही है पर विक्रिया से हो जाते हैं। किसीके शस्त्र मारना है तो यों ही हाथ उठाया और वह हाथ ही शस्त्र बन गया। उन्हें शस्त्र तलाशना नहीं पड़ता है। विक्रियासे खुदका हाथ ही शस्त्र हो गया। तो उन जीवोंमें जो सम्यग्दृष्टि नारकी है और किसी समय स्वानुभवमें हों तो वे अपने बारेमें पता रखेंगे कि मैं ऐसा शुद्ध प्रतिभासमात्र चैतन्य तत्त्व हूं, किन्तु यह अनुभव कुछ क्षण चलता है। बादमें तो सब ख्याल हो ही जाता है कि मैं अमुक हूं। इतना अन्तर रहता है कि सम्यग्दृष्टिके अंतरंग में, प्रतीतिमें तो यह रहता है कि मेरा स्वरूप नारकी नहीं है, मेरा स्वरूप ज्ञानानंद है पर आखिर उस पर्यायको कहां फैंक दें। सो उसको भी जानते हैं। जैसी यहां मनुष्यकी बात है वैसी ही वहां उनकी बात है।

यह जीव कर्मविपाकमें आए हुए तिर्यञ्चगति के परिणामोंसे अपने को तिर्यञ्च मानता है। मनुष्य हुआ तो मनुष्य जैसी लीलाएँ कीं, पशु हुआ तो पशु जैसी लीलाएँ कीं, तिर्यञ्च हुआ तो तिर्यञ्चकी जैसी लीलाएँ कीं। क्या कोई पशु किसी मनुष्यके सुन्दर रूप पर आकर्षित होता है? वह तो पशुवोंपर ही आकर्षित होता है। तो यह जीव जिस भवमें जाता है उस भवके योग्य इस जीवके अध्यवसान हैं। तो यह जीव अपने अध्यवसान परिणामोंके द्वारा अपनेको नारकी बनाता है, तिर्यञ्च बनाता है। मनुष्य गतिका विपाक हो उससे उत्पन्न हुआ जो अहंभाव है—मैं मनुष्य हूं या मनुष्यरूपसे जितनी भी चेष्टाएँ हैं उनसे उसने अपनेको मनुष्य बनाया। इसी प्रकार विपाकमें आया हुआ जो देव भव है उस देवभवके अध्यवसानके द्वारा वह अपनेको देव बनाता है। ये तो हुई चार बंधपर्याय

सम्बन्धी बातें और उदाहरणमें दी गई हैं हिंसकादिक भावाकी बातें।

अध्यवसानके द्वारा परिस्थितिका निर्माण— अब जैसा कि गाथा में लिखा है सो बतलाते हैं पुण्य पापकी बातें। यह जीव अपने को पुण्य रूप बनाता है। विपाकमें आए हुए सुख आदिक पुण्यके अध्यवसान द्वारा अपने को पुण्यरूप बनाता है और विपाकमें आए हुए पापके अध्यवसान के द्वारा अपनेको पापरूप बनाता है। अब देखते जावो जीव हिंसक क्यों है कि उसके हिंसाका अध्यवसान हुआ। यह तो पूरा अध्यवसान दृष्टिसे उदाहरण है। सभी लोग मानते हैं कि यह जीव पुण्यरूप क्यों है कि उसके पुण्यका परिणाम बना रहता है और यह जीव पापी क्यों है कि उसके पापका परिणाम बन रहा है और यह मनुष्य क्यों है उसी सिलसिलेसे उसका भी उत्तर यही है कि उसका मनुष्य भवके योग्य परिणाम चल रहा है इसलिए मनुष्य है। यह भीतर की अंतरंग दृष्टिसे उत्तर है। व्यवहार में तो यों कहा जायेगा कि यह मनुष्य देह है इसलिए मनुष्य है। पर अन्तर्दृष्टि से यह उत्तर मिलेगा कि चूँकि वह मनुष्यपने की धुनिमें रहता है, मनुष्यपने का भाव रखता है इसलिए वह मनुष्य है।

इस प्रकार यह जीव नाना पर्यायोंके अध्यवसानके द्वारा अपनेको नाना पर्यायोंरूप बनाता रहता है। इस जगह अभी पर्यायरूपताके अध्यवसान की बात कही गयी है। अब ज्ञायमान जो पदार्थ हैं, जो चेतन हैं उन पदार्थोंमें अध्यवसान करके भी अपने को यह नानारूप मानता है, इस बातका वर्णन करते हैं।

धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६६॥

ज्ञायमानका अध्यवसाय— यह जीव अध्यवसानके ही द्वारा अपने को धर्मरूप अधर्मरूप, जीवरूप, अजीवरूप, लोकरूप, अलोकरूप सब प्रकार अपनेको बना डालता है। यहां किसी विपच्यमान् तत्त्वमें तो उदय से सम्बन्ध है और ज्ञायमान् तत्त्वमें जाननेसे सम्बन्ध है। जैसे कोई मनुष्य केला बेच रहा है तो हम जब उसे बुलाते हैं तो ये केला, ये केला कह कर पुकारते हैं। उस केलेवालेमें और केलेमें एकत्व भाव करके हम बुलाते हैं। इसी प्रकार हम जिस पदाथको जान रहे हैं, जिस पदाथ-विषयक विकल्प बना रहे हैं—अपने विकल्पसे और विकल्पमें आए हुए विषयमें एकत्व करके हम यह कह देते हैं कि यह जीव अध्यवसानके ही द्वारा अपनेको धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी द्रव्योंरूप अपने को बनाता है।

ज्ञायमानके अध्यवसाय बिना बातपर विवाद असंभव-- इस सम्बन्धमें यह शंका हो सकती है कि यह जरा कम समझमें आता है कि धर्मद्रव्यका हम स्वरूप जान रहे हैं तो हमने अपने आपमें धर्मद्रव्य कैसे बना लिया ? जान रहे हैं। अगर धर्मद्रव्यकी चर्चा करने चलें और उस चर्चामें हमारे बताए हुए विचारके विरुद्ध कोई दूसरा विचार रखे तो हमें क्षोभ क्यों आ जाता है ? क्षोभ इसलिए आ जाता है कि जाननेमें आ रहे धर्मद्रव्यके सम्बन्धमें हमने ऐसा एकत्व विकल्प कर लिया कि अब उस विषयके सम्बन्धमें कोई दूसरा यदि विरुद्ध बोलता है तो हम उससे विवाद करेंगे। जैसे हम किसी मंदिरमें कोई तस्वीर देख आएँ और आप भी थोड़ा-थोड़ा देख आएँ और हम उन सबका वर्णन करने लगें और आप टोक दें कि वहां ऐसा नहीं है, वहां ऐसी तस्वीर है, वहां यह है, हमारी बातको आपने काटी इसलिए क्षोभमें आ गए। यह क्षोभ साबित करता है हम जो कुछ जान रहे हैं उस पदार्थमें और अपने में एकत्व करने के इस अध्यवसायको; नहीं तो ऐसा कह देते कि भैया ऐसा न सही, ऐसा ही होगा।

अध्यवसानकी असमीचीनता— सो भैया ! एकत्वका जो अध्यवसाय होता है उस अध्यवसायसे यह जीव अपने आपके आत्माको धर्मद्रव्य रूप, अधर्मद्रव्यरूप, परजीवरूप, अजीवरूप, लोकरूप, अलोकरूप, नानारूप बनाता है। जैसे हम शास्त्र बोल रहे हैं, इसी बीचमें आपका चित्त मानों बाम्बेके किसी दृश्यमें पहुंच गया और आपको हमने ताड़ लिया कि इनका परिणाम शास्त्र सुननेमें नहीं है तो पूछते हैं कि भाई तुम इस समय कहां हो ? सुनने वाले तो यह समझेंगे कि यह क्या पूछ रहे हैं, मंदिरमें ही तो बैठे हैं। पर वहां यह पूछा कि भाई आपका उपयोग किस विषयक है ? तो जिस पदार्थमें उपयोग है उस पदार्थमें वह एकरस होकर जानता है यही तो मिथ्या अध्यवसान है।

आत्माकी ज्ञायमानपररूपता— यह जीव ज्ञेय पदार्थके अध्यवसान परिणामके द्वारा अपनेको नाना ज्ञेयरूप बनाता है, जैसे घटाकार परिणत जो ज्ञान है वह घट कहलाता है इसी प्रकार धर्मास्तिकायके सम्बन्धमें जो कुछ समझ रहा है उस ज्ञेयाकारमें परिणत जो केवल है वह धर्मद्रव्य कहलाता है। ऐसा जो परिच्छेदरूप विकल्प है उस रूप अपने को बनाना उस कालमें जब कि अज्ञानमय अध्यवसाय चल रहा है उस समय मैं चिदानन्दस्वरूप हूं, केवल ज्ञानमात्र हूं, तो ऐसा उसकी दृष्टिमें न रहा, सो वह भी उपचारसे पररूप बन गया।

विपच्यमानका अध्यवसाय और ज्ञायमानका अध्यवसाय— यह जीव उदयमें आया जो विपाक, उसके फलमें अपनेको जैसा हिंसक, झूठ, चोर, कुशील, परिग्रही बनाता है और नारकी, तिर्यञ्च मनुष्यदेव बनाता है तथा अपनेको नाना पुण्यरूप, पापरूप बनाता रहता है, इसी प्रकार यह जीव जाननेमें आए हुए पदार्थोंमें एकरस होकर, परिच्छेद विकल्पमें दृष्टि लगाकर अपने चित् प्रकाशमात्र स्वभावकी दृष्टिसे च्युत होकर नाना ज्ञेयपदार्थोंरूप अपनेको बनाता है, तो जैसे विपाकमें अपनेको नानारूप बनाया, विपाकमें आया हुआ जो परिणाम है उन परिणामोंके अपनानेसे मायामयरूप बनाया, इसी प्रकार ज्ञानमें आए हुए जो पदार्थ हैं उन पदार्थों के अपनाने से इसने अपनेको नाना रूप बनाया, दूसरे जीवोंको जाना तो दूसरे जीव रूप बनाया, अधर्मद्रव्य जाना तो अधर्म द्रव्य बनाया। केवल ज्ञानमें परिच्छेदके विकल्पके अध्यवसायके अभावसे ऐसा नहीं बन पाता। पुद्गलद्रव्यको जाना तो उसका अध्यवसाय करके पुद्गलरूप बनाया। लोकाकाशको जाना तो अध्यवसाय करके अपनेको लोकाकाशमय बनाया। अपनेको अलोकाकाशरूप बनाया।

उलझन और सुलझनकी दिशा— भैया! इस तरह यह जीव ज्ञायमान पदार्थोंमें भी अध्यवसान करता है। अपनेको नानारूप बनाता है, यह प्रक्रिया हो रही है इस संसार अवस्थामें। सो यहां विपत्ति है, परकी उलझन है। इसकी निवृत्ति हो सकती है तो इन सबसे विभक्त चैतन्यस्वरूप मात्र अपने आपकी दृष्टिका अभ्यास होने से ही हो सकती है। ये सारे विकल्प, संकट एकत्वविभक्त आत्मतत्त्वके आश्रयसे दूर हो सकते हैं।

विश्वसे विभक्त होने पर भी विश्वरूप बननेका कारण अध्यवसान— यह आत्मा समस्त अन्य परपदार्थोंसे जुदा है। सारे विश्वसे अपना न्यारा सत्त्व रखता है अर्थात् विश्वमें सभी पदार्थ आ गए, उसमें यह आत्मा भी आया, पर यह आत्मा अपने स्वरूपके अतिरिक्त अन्य जितने आत्मा हैं और जितने परपदार्थ हैं उन सबसे विविक्त है। अपने ही स्वरूप चतुष्टय से अस्तित्व सम्पन्न है, फिर भी अध्यवसायका ऐसा प्रभाव है कि यह आत्मा अपनेको विश्वरूप बना लेता है अर्थात् नानारूप बना लेता है। अपने नारक होनेके परिणामसे नारकी बनता है। तिर्यञ्च भावके योग्य परिणामोंमें अध्यवसान करके तिर्यञ्च बनता है, देवके योग्य भावोंको करके अपने को देव बनाता है और मनुष्यके योग्य अपनेमें परिणाम करके अपने को मनुष्य बनाता है। तो यह एक आत्मा अपने रागद्वेष मोह परिणामके कारण नानारूप बनाता चला जा रहा है।

भिन्न सृष्टिकर्ताका अभाव— भैया ! जगत्में कोई अलगसे सृष्टि-कर्ता ऐसा नहीं है जो कि जीवोंकी सृष्टि किया करता हो। क्योंकि सृष्टि का कोई प्रयोजन ही नहीं है। क्या खेल करनेके लिए किसीने सृष्टि रचा है या जीवोंको सुखी या दुःखी करनेके लिए सृष्टि रचा है ? क्या प्रयोजन था सृष्टि रचनेका ? कानसी ऐसी अड़चन आ गयी जो सृष्टि करना पड़ा ? क्या किसीने इसलिए यह लीला खेली कि जिससे जीवोंको तकलीफ हो ? कैसी ही दुर्गतिमें हो, कोई विवेकी पुरुष ऐसी लीलाएँ करना पसंद नहीं करता। और फिर दार्शनिक दृष्टिसे देखा जाय तो किस उपादानसे इस जीवको बनाया गया या बिना ही कुछ हुए एकदम ही बना दिया ? ऐसा तो जगत्में नहीं देखा जाता कि कुछ भी न हो और चीजका निर्माण किया जाय। कुछ तो उपादान चाहिए निर्माण करनेके लिए। तो इन सब बातोंसे यह स्पष्ट है कि सृष्टिकर्ता मेरा मेरेसे अलग कोई नहीं है।

अध्यवसान और उसका निमित्त— हां, निमित्तरूपमें सृष्टिका कारण है कर्मोंका उदय। कर्मोंके उदयका निमित्तमात्र पाकर यह आत्मा अपने अध्यवसान परिणामसे अपनेको ज्ञानरूप बनाया करता है। है तो यह सबसे न्यारा, फिर भी जिसके प्रभावसे यह आत्मा अपनेको नाना पर्यायों रूप बनाता है वह विपाक है मोहका। अर्थात जितने भी विकल्प हैं, अध्यवसान हैं, मैं अमुक हूं ऐसी प्रतीति हो, यह मेरा है ऐसी प्रतीति हो, ये जितनी भी अध्यवसानरूप प्रतीति हैं उसका कारण है मोह भाव। अध्यवसान उसको कहते हैं जो आत्मामें अपने आप बात नहीं है उसको भी अपने निश्चयमें करना इसे ही कहते हैं अध्यवसान। स्वरूपबाह्य अधिक निश्चय करने को अध्यवसान कहते हैं। जो अपने स्वभावमें नहीं है ऐसी बातका अपनेमें निर्णय रखना यही अध्यवसान है। जैसे बाह्य पदार्थ मेरे नहीं हैं पर यह निर्णय रहे कि ये मेरे हैं तो, यही अध्यवसान हुआ।

अज्ञानीका सर्वज्ञसे भी अधिक दौड़का कुप्रयास— देखो भैया ! सर्वज्ञदेव भी जिस बातका निश्चय न करें उस बातका निश्चय यह संसारी सुभट कर रहा है। सर्वज्ञ यह नहीं जानता कि यह मकान अमुक लाला जी का है। यदि वह सर्वज्ञदेव यह जान जाय कि यह मकान अमुक लाला जी का है तो इससे बढ़कर और रजिस्ट्री क्या हो सकती है ? पर सर्वज्ञदेव यह नहीं जानता कि यह मकान अमुक लालाजी का है, इसलिए उस सर्वज्ञदेवके अध्यवसान नहीं रहता है। वह सर्वज्ञदेव किसी भी परपदार्थ को किसीके स्वामित्वको योग करता हुआ नहीं जानता है। यह मकान

मेरा है, इस प्रकारका जिसके विकल्परूप परिणाम न हो वह ज्ञानी है। यह तो लोक-व्यवहारमें कहा जाता है कि यह मकान मेरा है, अमुक चीज मेरी है, पर वास्तवमें यह आपका नहीं है। जो अपना स्वभाव नहीं है उसका भी निश्चय बनाए इसे कहते हैं अध्यवसाय। मकान आपका है क्या ? आपका नहीं है। जब जो चीज आपकी नहीं है और विकल्प बना है कि यह चीज मेरी है यही तो अध्यवसान है।

सर्वज्ञत्वका अर्थ सर्व सत्का ज्ञातृत्व -- सर्वज्ञदेव यह नहीं जानते कि यह चीज इसकी है। यह भी नहीं जानते कि यह चीज अमुककी है। वे तो जो सत् है उसे ही जानते हैं, असत्को नहीं जानते हैं। जो बात मौजूद है उसे तो जानते हैं किन्तु जिसका सत् नहीं है उसे नहीं जानते। यह मकान है। इसमें जो कुछ सत् है सो उसका ज्ञान हो गया, किन्तु यह नहीं जानेंगे कि यह मकान इनका है। सर्वज्ञका अर्थ है सत् पदार्थोंको जानना। जैसे किसीने विकल्प कर लिया कि यह मकान मेरा है तो यहां भी ज्ञानी पुरुष, जो समझते हैं वे यह न कहेंगे कि यह मकान इनका है। वे तो कहेंगे कि यह मकान न इनका है, न हमारा है। हां ज्ञानमें झलक गया कि यह जो कुछ है, ऐसा परिणमन तो रहता है, पर यह मकान इनका है, इस प्रकारका अध्यवसान सर्वज्ञदेवके नहीं होता है। जो है सो जान लिया।

परवस्तुमें आत्मीयताकी मिथ्या कल्पना — यह मकान मेरा है या इनका है, ऐसा तो यहां ज्ञानी पुरुष भी नहीं कहता। फिर सर्वज्ञदेव तो बड़ा स्पष्ट ज्ञान वाला है ? वह इसका कैसे समर्थन कर सकता है कि यह मकान इनका है। जब आप यह जानने लगेंगे कि यह मकान मेरा है, तो समझो कि अभी स्वच्छ ज्ञान नहीं है। अरे मकान तो पर चीज है, उसे अपना मानना यही तो अध्यवसान है। लोकव्यवहारमें तो ऐसा ही बोला करते हैं कि यह मकान मेरा है, पर सोचो तो सही कि यह मकान आपका है कैसे ? जब यह देह तक भी अपना नहीं है, जब मरण होता है तो आत्मा तो यहांसे चला जाता है और यह शरीर यहीं पड़ा रहता है। तो मकानको अपना मानना विपर्यय है ही।

परका स्वामित्व सर्वथा असंभव— यहां प्रकरण यह चल रहा है कि क्या वास्तवमें मकान मेरा है ? क्या वास्तवमें धन वैभव मेरा है ? यह जो आत्मा है उसकी संरक्षणामें यह तो धर्मकी प्रारम्भिक बात है। इतना तो ज्ञानमें रहना चाहिए कि यह मकान मेरा नहीं है। मिथ्यात्व बुद्धिके कारण यह मान रहे हैं कि यह मकान मेरा है पर वस्तुतः यह मकान मेरा

नहीं है। जो ज्ञानी संत पुरुष होते हैं वे भी यही कबूल करते हैं कि यह मकान मेरा नहीं है। इस मकान पर हमारा स्वामित्व नहीं है। ऐसा इन ग्रन्थोंमें प्रारम्भमें ही बताया गया है। किसी भी परवस्तुको अपना न मानो, परवस्तु अपनी नहीं है। परवस्तुवोंके त्यागके लिए इन साधु संतों का उपदेश है।

मोहके त्यागमें धर्मका मूलत्व— देखिए इस पिण्डमें परवस्तु अब भी दो हैं। इनमें एक चेतन पदार्थ है और एक जड़ परमाणुवोंका पिण्डरूप पदार्थ है। लक्षण भेद है। जिसमें लक्षणभेद है वह एक दूसरेके समान नहीं होता। अगर आत्माका शरीर होता तो मरने पर शरीर उससे छूट क्यों जाता ? ऐसा भेदविज्ञानकी दृष्टि करना है, जिससे अपनेको यह प्रतीति हो कि मैं खाली एक हूं, अकेला हूं, मेरे साथ दूसरा कोई नहीं है। यह ज्ञान होना चाहिए और यह ज्ञान होने पर ही आत्मा की धर्ममें प्रगति चलती है। तो मोह ममताके त्यागका उपदेश इसी लिए दिया है कि वास्तवमें हमारा यहां है क्या ? तो यहां यह बात कह रहे हैं कि यह मोह परिणाम समस्त जगभ्रमणावों का मूल है और जिसके मोहका परिणाम नहीं है वह ही पुरुष यती है, ज्ञानी संत है।

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

अध्यवसान— इससे पूर्व इस ग्रन्थमें अध्यवसानका वर्णन चल रहा था कि कैसे-कैसे जीवमें अध्यवसान होता है ? मलिन परिणाम होता है। यह भी एक मलिनता है। अपने आप जैसा चैतन्यस्वरूपमात्र यह है ऐसा न सोचकर अपने आपमें यह बुद्धि बनाता है कि मैं मनुष्य हूं, पिता हूं, नारक हूं, तिर्यञ्च हूं, मैं घर वाला हूं, मैं परिवार वाला हूं, अमुक पोजीशन वाला हूं, ये सब बातें सोचना अध्यवसान है। और यह मेरा है ऐसा भी सोचना अध्यवसान है और कहां तक बताया जाय ? किसी पदार्थ को हम जान रहे हैं तो जिस पदार्थको हम जान रहे हैं उस पदार्थके जाननेमें हमारी ऐसी रागपूर्वक बुद्धि हो कि जिसमें हम विकल्पको स्वीकार करलें, जिस स्वीकारताके कारण हमारी बातमें कोई अगर विवाद करे या विरोध डाले तो उसमें भ्रम क्षोभ मान जावे तो इसका अर्थ यह है कि ज्ञेयमान पदार्थोंमें भी हमने एकत्वका अध्यवसान किया।

अध्यवसानके अभावसे कर्मलेपका अभाव— भैया ! ये सब अध्यवसान रागपरिणाममें होते हैं। वे सबके सब राग परिणाम जिसके नहीं हैं वे मुनिजन अशुभकर्म अथवा शुभ कर्म दोनोंमें लिप्त नहीं होते

हैं। व्यवहार परिणतिमें जीवको पहिले तो कुछ समझे बिना यह साधन चलता है, जैसे हम आपको बचपनसे ही मां मंदिरमें ले जाती है, उस समय बच्चेको कुछ मोह नहीं है; मगर फिर भी वह अपनी व्यवहार स्थितिमें लगता है, बचपनसे ही वैसे संस्कार पड़ने लगते हैं। जब कुछ समझने लगता है फिर कुछ समझ करके वह व्यवहारका काम चलाता है। अभी थोड़ी समझ है, मर्मरूप समझ नहीं है और ज्ञान किया तो विशेष ज्ञान होने पर वह समझपूर्वक व्यवहार करता है। फिर उसकी परिणति अव्रत परिणामको छोड़नेकी होती है। फिर वह व्रतोंको अंगीकार करता है, फिर साधु होकर उच्च पदमें स्थित होता है। जब अपने आत्मतत्त्वका अनुभव जगता है उस क्षण अपने सर्वप्रकारके विकल्पोंका विराम लेकर निर्विकल्प ज्ञानभावका या चित्प्रकाशका अनुभव करता है और ऐसी साधना करते हुएमें कोई क्षण ऐसा भी आता है कि उसे असीम आनन्दकी प्राप्ति होती है।

उत्कृष्ट ध्यानका सामर्थ्य— अब आजकल तो ऐसा संहनन नहीं है कि ध्यानकी उत्कृष्ट स्थिति बन सके, पर यदि ऐसा उत्कृष्ट ध्यान हो जाय तो चार घातिया कर्मोंका विनाश हो जाता है और वह सर्वदर्शी हो जाता है, फिर भी भगवान केवलीके जब तक अघातिया कर्म रहते हैं, शरीर साथ रहता है और बाकी ये कर्म नामकर्म, गोत्रकर्म, वेदनीय कर्म और आयु कर्म ये चार अघातिया कर्म जब तक हैं तब तक वे रहते हैं। इस लोकमें उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, फिर योगनिरोध होता है। उनके चारों अघातियाकर्म एक साथ खिर जाते हैं। ऐसा नहीं है कि पहिले एक कर्म खिर जाय, फिर बादमें एककर्म खिरे। उनके चारों अघातिया कर्म एक साथ खिर जाते हैं।

सर्वविकासका मूल मोहका परित्याग— सम्भव है कि अरहंत प्रभुके आयु कर्म तो थोड़ा रह गया है, और शेष ३ अघातिया कर्म अधिक स्थिति के हैं तो वहां सहज केवलि समुद्घात हो जाता है। इसमें आत्मप्रदेश पहिले तो नीचेसे ऊपर तक फैल जाता है, फिर अगल बगल फैल जाता है, फिर आगे पीछे फैल जाता है, यहां तक कि केवल वातवलय शेष रहती है। जब वातवलयमें भी फैल जाता है फिर उसे कहते हैं लोकपूरण समुद्घात। लोकपूरण समुद्घातकी स्थितिमें आत्माके जितने प्रदेश हैं वे एक-एक प्रदेश पर समवर्गणाके हिसाबसे फैल जाते हैं। अभी भी असंख्यातप्रदेशी है, जितने क्षेत्रमें फैला है उतनेमें असंख्यात गुणे प्रदेश हैं। असंख्यात असंख्यात तरहके होते हैं। हमारा आत्मा जितने प्रदेशमें

है, वह असंख्यात प्रदेशमें ठहरा है। हमारे आत्माके प्रदेश जितने प्रमाण हैं वे प्रमाण ज्यादा हैं तब तो समुद्घातका यह क्षेत्र ज्यादा दूर तक फैल जाता है। यह जो उनके विकासकी प्रक्रिया बनती है उसमें सर्वप्रथम मोह का परित्याग हुआ है।

अध्यवसानकी अचेतनता— जिसके अध्यवसान नहीं रहता है वह शुभ तथा अशुभ कर्म परिणामोंसे लिप्त नहीं होता है। ये तीन प्रकारके अध्यवसान हैं। मिथ्या ज्ञान, मिथ्या दर्शन और मिथ्याचारित्र अथवा अज्ञान, अदर्शन व अचारित्र ये ही बंधके कारण हैं। ऊपर तक भी जहां सम्यक्त्व होने पर भी कुछ समय तक अध्यवसान रहता है वहां पर अचारित्र है, स्थिरता नहीं है। अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र इन रूप जितने भी अध्यवसान हैं ये शुभ या अशुभ कर्मोंके आश्रयसे होते हैं क्यों कि ये अध्यवसान रागद्वेष मोहभाव, विकल्प, इच्छा ये सब अध्यवसान स्वरूपसे चेतने वाले नहीं हैं, प्रतिभास करने वाले नहीं हैं, ये अचेतन हैं। चेतन तो ज्ञान और दर्शन हैं।

ज्ञानातिरिक्त परिणामोंकी बन्धहेतुता— एक विश्लेषण से देखा जाय तो इनमें जो अनन्तगुण हैं व उनको गर्भित करने वाले ज्ञानगुण और दर्शनगुण हैं। बाकी गुण तो इसके उपभोगमें आते हैं। जैसे एक सुख का परिणाम हो तो सुखका परिणाम स्वयं अपने आपके सम्यग्ज्ञानके द्वारा होता है। इस तरह जितने भी अन्यगुण हैं वे सब ज्ञानके द्वारा अनुभवमें आते हैं। वे गुण स्वयं अपने ही अनुभवका प्रतिभास करने लगते हैं। ऐसा एक ज्ञानका काम है। तो ये सब अध्यवसान जितने हैं उनके स्वरूप से अगर देखा जाय तो ये ज्ञानातिरिक्त हैं। ज्ञानका काम तो मात्र जानन है। राग करना ज्ञानका काम नहीं है। राग करनेका जो परिणाम है वह जानन परिणामसे अतिरिक्त परिणाम है। तो जो भी ज्ञानभावसे अतिरिक्त परिणाम होंगे वे परिणाम शुभ अथवा अशुभ बंधके कारण होते हैं और जो केवल ज्ञानका परिणाम है। जाननमात्र परिणाम है वह जानन-मात्र बंधका कारण नहीं होता।

जैसे बंधके हेतु जो बताये हैं मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग ये चारों कर्म आश्रवबंधके कारणभूत हैं। मिथ्यात्व स्वयं चेतने वाला गुण नहीं है, अविरति स्वयं चेतने वाला गुण नहीं है, कषाय स्वयं चेतने वाला गुण नहीं है, योग स्वयं चेतने वाला परिणमन नहीं है। चेतने वाला परिणमन तो एक ज्ञान परिणमन है। अध्यवसान स्वयं अध्यवसान रूप है, शुभ अथवा अशुभ बंधका कारण है। उसीका थोड़ा विवेचन कर रहे

हैं। मैं इसे मारता हूं इस प्रकारका जो परिणाम है वह परिणाम अध्यवसान है या जीवका स्वरूप है। यह जो विकल्प होता है कि मैं दूसरे प्राणी का घात करता हूं। यह विकल्प अज्ञानरूप है, ज्ञानरूप नहीं है।

सहज और असहज भाव— आत्माकी क्रिया तो ज्ञानक्रिया है जो सद्भूत है और इसकी स्वयंकी क्रिया है। इसके अतिरिक्त अन्य क्रियाका परिणाम बंधका कारण है। आत्मा अपने आपमें ऐसा विवेक कर लेता है कि जितना ज्ञानप्रकाश है। जितना जानन परिणाम है वह तो है उसका स्वरूप है और जितने रागादिक भाव हैं वे हैं औपाधिक परिणमन। मेरे स्वभाव नहीं हैं, परिणमता तो मैं हूं पर रागादिक मेरे परिणमन नहीं हैं। मेरा स्वभाव ज्ञान दर्शन मात्र है, ऐसा जो अपने आपमें ध्यान करता है कि मैं शुद्ध ज्ञानप्रकाश मात्र हूं, शरीररूप नहीं हूं, शरीरका बंधन है, शरीरका एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, इतने पर भी मैं शरीररूप नहीं हूं। जरा शरीरकी दृष्टि अपने उपयोगसे ओझल करके केवल अपने आपमें जो अमूर्त शुद्ध एक प्रकाश प्रतिभास मात्र है उसकी ओर दृष्टि करो और देखो कि यह मैं प्रतिभास मात्र हूं।

आत्मपरिचयकी अपूर्व आवश्यकता— आत्मपरिचय करने के अनन्तर किसी क्षण विकल्प हो जाय, संकल्प हो जाय, तो वह बँध जाता है, पर किसी क्षण अपने आपका सत्य प्रतिभास हो गया था, सो उस सत्य प्रतिभासकी सामर्थ्यके बलसे जीवनमें आकुलता नहीं होती है। कुछ भी घटना आए, इष्ट वियोग अथवा अनिष्ट संयोग हो जाय तो भी वहां यह ज्ञान रहता है कि मैं केवल शुद्ध अर्थात् सबसे न्यारा अपने स्वरूपमात्र हूं—ऐसा जानकर इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगमें वह विह्वल नहीं होता। भेद विज्ञान करना और सबसे पृथक् आत्मस्वरूपका परिचय पाना यह बहुत आवश्यक कर्तव्य है।

सत्—श्रद्धाका सामर्थ्य— यद्यपि गृहस्थोंकी ऐसी दशा है कि परिग्रह रखे हैं, कुछ आरम्भ रखे हैं, परिजनोंका संगम है, ऐसी स्थितिमें कुछ उनकी विलक्षण दशा है। ऐसी स्थितिमें कुछ न कुछ विकल्प रहता है। पर ऐसी स्थितिमें रहने वाले श्रावक भी किसी क्षण जब चाहे स्वाध्याय, ध्यान पूजन आदि अवसरोंमें, अन्य अवसरोंमें जब कभी उनकी अपने आत्माके सहजस्वभावकी ओर दृष्टि होती है तो वे भी उस आनन्द का पान कर लेते हैं जिस आनन्दको बहुत क्षण साधुजन पाते हैं। गृहस्थजनोंके आरम्भ है, परिग्रह है, संसार है। उनके विकल्प जगता है, पर आखिर चैतन्यस्वरूप ही तो ये हैं संज्ञी हैं, अपने स्वरूपका परिज्ञान

करना चाहें तो क्या कर नहीं सकते हैं ? कर सकते हैं। संज्ञी होनेके कारण चैतन्यस्वभावको जानकर इनकी रुचि उस ओर तीव्र होने पर कल्याणमार्ग मिलता है। परद्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।

अध्यवसानोंके अभावमें मुनियोंकी पवित्रता—परद्रव्योंसे न्यारा केवल इस आत्मतत्त्वमें रुचि जगे—अहो यह तो भगवत् स्वरूप है, यह परमात्मा हो सकता है, ऐसा अपने आपके स्वभावको पहिचान कर अपने आपमें रुचि जगना यही कल्याणका उपाय है। अपना उपाय यही होना चाहिए कि व्रत करें, स्वाध्याय करें, संयम करें, यह तो हितकी बात है। पूजन, सामायिक सबमें ऐसा परिणाम हो कि अपने आपमें लीन हो जायें, ऐसी अपने हितकी भावना करें तो अपनी सफलता हो सकती है। और यदि केवल दूसरे को दिखानेके लिए या अपनेको कुछ जताने के लिए इन बातोंको किया जाय तो इससे कल्याणका मार्ग नहीं प्राप्त होता है। अपनी ही भलाईके लिए अपने शुद्ध परिणामोंमें आना है। शुद्ध परिणामोंकी उन्मुखता बढ़े और शुभ अशुभ परिणाम छूटें तो किसी क्षण निर्विकल्प समाधिका हम अनुभव कर सकते हैं। ऐसा जो मुनिजन करते हैं वे शुभ अथवा अशुभ कर्मोंसे लिप्त नहीं होते।

क्रियाध्यवसान—अध्यवसान ३ प्रकारके होते हैं—अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र। ये तीनोंके तीनों अज्ञानरूप हैं और शुभ अशुभ बंधके कारण हैं। उसका अब विवेचन करते हैं कि जैसे यह अध्यवसान परिणाम हो कि मैं मारता हूं, तो यह अध्यवसान परिणाम ज्ञानमय आत्मासे भिन्न चीज है। आत्माका स्वरूप तो ज्ञानमयता है और ऐसा अध्यवसान जिनके होता है उनका स्वरूप अज्ञानरूप है। यह आत्मतत्त्व तो एक सद्भूत और अहेतुक ज्ञप्ति क्रिया वाला है और मैं मारता हूं, इस प्रकारका जो क्रियाका अध्यवसान है वह रागद्वेषका फलरूप है और इसी कारण वह अज्ञानरूप है। इस तरह इस अज्ञानी जीवने अपने आपके स्वरूपमें और क्रियामें भेद नहीं जाना। अपनी इस ज्ञप्तिक्रियाको छोड़कर जो अध्यवसानरूप क्रिया है उस बंधरूप क्रियासे अपने आपके स्वरूपको भिन्न नहीं पहिचाना और माना मैं करता हूं।

सहजक्रिया और औपाधिकक्रियामें अन्तर—भैया! यह मैं तो ज्ञानस्वरूप हूं, जिसका काम तो केवल ज्ञप्ति है, तो मेरी वास्तविक क्रिया ज्ञप्ति है ऐसा तो नहीं पहिचाना और मेरी क्रिया मारने की है, मैं मारता हूं इसको जाना। यह अध्यवसान भी यद्यपि आत्मामें होता है, पर यह तो

विपच्यमान है, आत्माका स्वभाव नहीं है। सो यहां क्रियामें और अपने स्वरूपमें अन्तर दिखाया जा रहा है। यहां हनन आदिक क्रियाओं और सद्भूत अहेतुक, ज्ञप्ति क्रियावान् आत्मतत्त्वमें अन्तर है। आत्माकी सहज क्रिया जाननरूप है और मैं मारता हूं आदिक अध्यवसानरूप क्रियाएँ औपाधिक भावकर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न हुए परिणाम हैं। मैं सहज अपने स्वभावके कारण केवलज्ञानमात्र हूं। जिसकी सहज-क्रिया ज्ञप्ति है ऐसी ज्ञप्ति क्रियावोंरूप अपने आत्मतत्त्वमें [illegible] फल स्वरूप हनन आदिक क्रियावोंमें इस जीवने विशेषता नहीं जानी।

विवेक न होनेका परिणाम— ये दोनों ही विशेषताएं न [illegible] कारण विविक्त जो यह आत्मतत्त्व है इसका ज्ञान नहीं होता। तब यह अज्ञानरूप रहा। सो न तो विविक्त आत्माका ज्ञान हुआ और [illegible] से निराले इस आत्मतत्त्वका श्रद्धान हुआ और न इस [illegible] केवल ज्ञप्ति क्रिया वाला रह सकना इस [illegible] आचरण भी नहीं हुआ। तब इस जीवके अज्ञान होना मिथ्यादर्शन होना और अचारित्र होना प्राकृतिक ही बात है।

तीनों अध्यवसानोंसे रहित मुनि— यहां यह प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानी संत पुरुषोंके अध्यवसान नहीं होता है, सो वे शुभ अशुभ कर्मोंसे लिप्त नहीं होते। उन अध्यवसानोंसे अपनेको पृथक् न देख सकने वाला यह अध्यवसान कहा गया है। दूसरा अध्यवसान है—जो पर्याय मिला है उस पर्यायस्वरूप अपनेको मानना, यह भी अध्यवसान है। मैं नारक हूं, तिर्यञ्च हूं, मनुष्य हूं, देव हूं आदि ज्ञायमान विकल्पोंरूप अपनेको मानना इस प्रकारके जो अध्यवसान हैं वे इस ज्ञानमय आत्मासे अपनेको पृथक् नहीं समझने देते।

अध्यवसानोंका अन्धकार— उन अध्यवसानों को तीन भागोंमें विभक्त किया है। एक तो औपाधिक क्रियाओंसे अपनेको भिन्न न मान सकना और दूसरे अपनी जो पर्याएँ हुईं उन पर्यायोंसे अपनेको पृथक् न समझ सकना, कुछ समाधानसहित ध्यानमें लाइए और तीसरी बात— जो जाननेमें आ रहा है, ऐसे पदार्थोंसे जिसके समय जो विकल्प हैं उस समय उन विकल्पोंसे अपनेको जुदा न समझ सकना, ये तीन तरहके अंधेरे होते हैं। जिन अंधेरोंमें रहकर अपने आपके स्वरूपमें स्थित जो कारण समयसार है, परमात्मतत्त्व है, शुद्ध स्वरूप है वह विदित नहीं हो सकता। यह गाथा बहुत गम्भीर है और अत्यन्त मर्ममें पहुंचाने वाली है। मोक्ष मार्ग जैसा शिवमय पानेके लिए हमें कितनी पैनी दृष्टि करके अपने सहज

स्वरूपको निरखना है, यह इसमें बताया गया है।

आत्मस्वभावका परिचय— जीव तो अपने आप सहज एक ज्ञानप्रकाश मात्र है और उस जीवका अपनी ओरसे जो काम हो सकता है वह मात्र जाननका काम हो सकता है। फिर तो जो राग करता है और अनेक क्रियावोंका परिणाम बनाता है, मैं चलता हूं, उठता हूं, बैठता हूं, मारता हूं, सुखी करता हूं ऐसी क्रियावोंके विकल्प आत्मामें आत्माके स्वभावसे नहीं उठते। अगर ये क्रियावोंके विकल्प करनेके भाव आत्माके स्वभावसे उठते होते तो सिद्ध भगवान्‌के भी होने चाहिएँ। जो चीज स्वाभाविक है वह सिद्ध प्रभुमें मिलती है और जो चीज स्वाभाविक नहीं प्राकृतिक है, औपाधिक है वह संसारी जीवोंमें मिलेगी आजका प्रकरण बहुत मनोयोगसे सुनियेगा, बड़ी सावधानीसे भेदविज्ञानकी दृष्टिसे इसमें बताया गया है। हमें समझना है अपने आपके सहजस्वरूपको अर्थात् ये आत्मा स्वयं अपने आप किसी परकी उपाधि न हो तब किस प्रकार यह रह सकता है? यह जानें।

अध्यवसानोंमें स्वपरका एकत्व— यद्यपि अभी देहके बंधनमें है और आत्मा भी आकुल व्याकुल रहता है। फिर भी हम ज्ञान द्वारा जान तो सबको सकते हैं यथार्थ, आत्म पदार्थ अपने आपकी सत्ताके होनेसे किस स्वरूप वाला हुआ, यह बात यहां जाननेकी है। यह बात जिसने न जानी उनकी वर्तमान स्थिति क्या है कि वह तीनों प्रकारके परिणामोंमें रहता है, एक तो रागद्वेषोंके परिणाम रूप क्रियाके एकत्वमें। मैं कर्ता हूं, मैं खाता हूं, मैं चलता हूं आदि इस प्रकार क्रियाके एकत्वमें दूसरे प्रकार का अध्यवसान है और परिस्थिति मिली है, पर्याय मिली है। पशु पक्षी आदिके पर्यायरूपमें एकत्वको लिए हुए, अर्थात् मैं नारकी हूं ऐसे संतोष को लिए हुए, यह है दूसरे किस्मका अध्यवसान और तीसरे प्रकारका अध्यवसान यह है कि हम जिन पदार्थोंको जानते हैं उन पदार्थोंके विषयमें जो विकल्प हुआ है उसमें हम रागके कारण एकत्व लिए हैं। ये ३ प्रकारके अध्यवसान संसारी प्राणीके हैं जिसके कारण यह जीव अपने आपका अपने सत्त्वके कारण जो सहज स्वरूप है उसका परिज्ञान नहीं करता।

अध्यवसानोंका विवरण— अध्यवसानका अर्थ है जो आत्मामें स्वयं स्वभावसे नहीं है ऐसे जो नाना औपाधिक तत्त्व हैं उन तत्त्वोंमें अपने उपयोगका लगाव करना, यही है अध्यवसान अर्थात् रागद्वेष करने की क्रियाएँ, मिली हुई पर्यायमें, इन सबमें मैं हूं, मैं कर्ता हूं, इस प्रकारके उपयोगका लगाव करना ये सब अध्यवसाय हैं और सीधी भाषामें यह

कह लो कि जो काम सिद्ध प्रभु नहीं करते वे जितने भी काम यहां हो रहे हैं हम और आपके, वे हैं अध्यवसान। इन मोटे तीन प्रकारके अध्यवसानोंसे हटकर जब हम आत्माके अनुभवकी स्थितिमें आते हैं तो उस स्थितिमें भी जितने क्षण हमें भेदरूपसे ध्यान रहता है, चाहे वह अपने बारेमें ही होता हो। जब भेदरूपसे रहता है तब तक तो अध्यवसान है और जब भेदरूप ध्यान हटकर अपने ज्ञानस्वरूपको अभेदरूपसे अनुभवे तब अध्यवसान नहीं रहता है। विचार, विकल्प, रागद्वेष ये सब अध्यवसान हैं।

ये अध्यवसान जिसके नहीं होते वे मुनिजन शुभ अथवा अशुभकर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं। तीनों प्रकारके अध्यवसान त्यागना है। यह बहुत तीक्ष्ण दृष्टिसे भेदविज्ञान यहां कहा जा रहा है। क्रियामें अध्यवसान, पर्यायमें अध्यवसान और ज्ञायमान विकल्पमें अध्यवसान। ये तीन तरह के अध्यवसान हैं। क्रियामें तो ज्ञानी पुरुष यह देख रहा है कि क्रिया तो जाननस्वरूप है, मैं सुखी करूँ, दुःखी करूँ, मारूँ, जिलाऊँ आदिक जितने क्रियारूप विकल्प हैं वे मेरी सहज क्रिया नहीं हैं। तो एक ज्ञप्ति क्रियावान आत्मतत्त्वके लिए ये सब क्रियाएँ रागद्वेषके परिणामसे होती हैं और इसी कारण ये क्रियाएँ अज्ञान स्वरूप हैं।

प्रभुकी तुलनासे सहज क्रियाका परिचय— अपने आत्मस्वरूपमें और इन क्रियावोंमें यह जीव एकत्व करता है, किन्तु यह कथन अशुद्ध निश्चय दृष्टिसे है। यहां आत्माके सहजस्वरूपको पहिचाननेका उद्यम किया जा रहा है, मेरी सहज क्रिया क्या है? जो प्रभुकी क्रिया है वही आत्माकी सहज क्रिया है। जो बात प्रभुमें नहीं पायी जाती है वह हम कर रहे है यद्यपि, हम परिणति बना रहे हैं फिर भी हमारा वह सहज परिणमन नहीं हो सकता। हमारा स्वाभाविक परिणमन वह है जो निर्दोष निष्कलंक आत्माका है। हम जो कुछ करते हैं क्या हम सब सही कर रहे हैं? करते हैं, पर गलत भी करते हैं और सही भी करते हैं।

गलत और सहीका अन्वेषण— गलत और सही की व्याख्या कुछ पदवियों तक अपेक्षित चलती है जिस क्रियाको साधु गलत मान सकते हैं उसको गृहस्थ सही भी मान सकते हैं। और जिस क्रियाको प्रमत्त अवस्था में साधुपद सही मान सकता है वह क्रिया अप्रमत्त साधुकी अपेक्षा गलत हो जाती है और ऊँची श्रेणियोंमें चलकर जहां अभेद परिणमनकी दशा होती है। उनकी इस ज्ञप्ति क्रियाके आगे जो कुछ भी विचारार्थक कुछ भी हो वह सब गलत हो जाता है। तो कुछ पदवियों तक गलत और सही

अपेक्षित चलती है, मगर ऐसी पूर्ण सही क्रिया क्या है जिसमें अपेक्षा नहीं रहती है ऐसी निरपेक्ष यथार्थ तो ज्ञायककी ज्ञप्ति क्रिया है उसके आगे यह नहीं रहना कि क्या यह किसी अपेक्षासे गलत हो सकता है ?

ज्ञानरसमें मग्नताकी उपादेयता— भैया ! क्रियामें अध्यवसान [illegible] यह पहिला अध्यवसान है और दूसरा अध्यवसान कह रहे हैं कि [illegible] का लगाव रखना। मैं मनुष्य हूं ऐसी यदि प्रतीति है तो [illegible] कहनेकी उत्सुकता न आए तो क्या यह मनुष्य [illegible] यह शरीर है, पर अपने आपमें ऐसे ज्ञानरसमें डूबो कि यह प्रतीति न रहे कि मैं मनुष्य हूं। एक मोक्षमार्गमें, आत्ममार्गमें चलने की दिशा बतायी जा रही है। तो मैं तो अहेतुक ज्ञायकस्वरूप हूं और ये कर्मविपाकसे उत्पन्न हुए नारकादिक भव ये रागद्वेषके परिणाममें हुए हैं. ये समस्त अनात्मतत्त्व हैं। इन रूप मैं नहीं हूं। ज्ञानी तो यह धारणा रखता है, पर अज्ञानी जीवको इस पर्यायसे भिन्न कुछ मैं विविक्त पदार्थ हूं ऐसा उसके ज्ञानमें नहीं रहता है।

द्वितीय अध्यवसानका परिणाम— जब पर्यायसे विविक्त ज्ञानमात्र अमूर्त आकाशवत् निर्लेप इस आत्मतत्त्वका परिचय नहीं होता, परिज्ञान नहीं होता तब तक अज्ञान है, और इस विविक्त आत्मतत्त्वका दर्शन न हो तो इसका अदर्शन है, और इस विविक्त आत्मतत्त्वमें अभेद रूपसे अनुभवन करने रूप आचरण न हो तो यह अचारित्र है। यह दूसरे प्रकारका भी अध्यवसान जिन मुनियोंके नहीं है वे मुनि शुभ अथवा अशुभ परिणाम से लिप्त नहीं होते हैं। यह कहा गया है दूसरे प्रकारका अध्यवसान।

स्थूलभूत दोनों अध्यवसानोंमें अन्तर— इन दो अध्यवसानोंमें अन्तर इतना है कि पहिले तो वह करनेमें अपना भाव रखता था, मैं सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, जिलाता हूं, मारता हूं— इस प्रकारकी क्रियावों में अर्थात् उपयोगका लगाव रखनेमें और इन दूसरे प्रकारके अध्यवसानों में इस जीवने कर्मोंके विपाकमें उत्पन्न हुए जो परिणमन हैं उन परिणमनों में लगाव रखा। जैसे कि छहढालामें लिखा है कि "मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।" तो यह जो परिणमनका लगाव है, यह मैं हूं इस प्रकारका अध्यवसान मिथ्या है। कोई यह सोचनेकी उत्सुकता न रखे तो क्या मैं दुःखी नहीं हूं ? अरे हम दुःखी हों, पर दुःखसे विविक्त जो हमारा अपने आपके स्वरूपके कारण सहजसत्त्व है उसका परिचय करानेकी बात चल रही है। तो वह परिणमनमें जो लगाव है वह लगाव

रूप अध्यवसान जिसके नहीं होता है वे मुनि कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं।

अध्यवसानोंके न होनेकी परिस्थिति-- जो ये अध्यवसान नहीं करते हैं उसका कारण क्या है कि उन्हें केवल आत्माके सहज लक्षणरूप स्वभावका दर्शन है, ज्ञान है और आचरण है। यही निश्चय रत्नत्रय है, यही परम भेदविज्ञान है। इस स्वरूपके अध्यवसानकी जब स्थिति नहीं होती है तो जीवको ऐसा परिणाम हुआ करता है कि मैं मारता हूं, सुखी दुःखी करता हूं, अमुक कार्य करता हूं, यही है क्रियाका अध्यवसान और मनुष्य हूं, स्त्री हूं, ये हैं क्रियाके अध्यवसान। कर्मोंके उदयसे जो परिणति प्राप्त हुई है उस परिणमनमें अपने अभेदका अभ्यास बनाना यह हुआ दूसरे प्रकारका अध्यवसान। अब तीसरे प्रकारका अध्यवसान कहते हैं।

अध्यवसानोंकी त्रिरूपता-- यहां प्रकरण यह चल रहा है कि जिन मुनियोंके अध्यवसान नहीं होता है वे पुण्यकर्म और पाप कर्म दोनोंसे लिप्त नहीं होते हैं। प्रकरण बहुत सूक्ष्म है और कठिन है, पर थोड़ासा इस सम्बन्धमें कहेंगे और आप लोग सावधानीसे सुने। यहां बतला रहे हैं कि अध्यवसानके परिणाम अर्थात् अनात्माकी ओर लगने वाले परिणाम तीन तरहके होते हैं। एक तो करनेमें लगाव रखना और दूसरे अपनी वर्तमान पर्यायमें लगाव रखना और तीसरे जो जाना जा रहा है, जो ज्ञेयाकार विकल्प होता है उसमें लगाव रखना-- ये तीन अध्यवसान होते हैं।

क्रियाध्यवसान-- इसमें सामान्य रूपसे यह बताया जा रहा है कि मैं दूसरेको मारता हूं, सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, इस प्रकारके करने में अपना विकल्प बना सो यह प्रथम जातिका अध्यवसाय है। है तो इसकी शुद्ध ज्ञप्ति क्रिया, आत्माकी क्रिया केवल जानन मात्र है, पर उस क्रियाके आश्रयसे अध्यवसान करना, मारना, सुखी करना, दुःखी करना आदि औपाधिक क्रियाओंमें लगाव बना लेना यही है क्रियाविषयक अध्यवसान।

कर्मोदयाध्यावसान-- दूसरे यह आत्मा भगवान, है तो सहज ज्ञायकस्वरूप है किन्तु अपनी उस सहज प्रतीतिसे चिगकर जो परिणमन पाया है, औपाधिक मनुष्यादि भव जो पाया है उसमें यह मैं हूं इस प्रकार का लगाव होना है, यह है दूसरी जातिका अध्यवसान।

ज्ञायमानाध्यवसान-- अब तीसरे प्रकारका अध्यवसान कह रहे हैं यह धर्मद्रव्य जाना जा रहा है अथवा अन्य कुछ ज्ञेय पदार्थ मिला, यहां धर्मद्रव्यका स्वरूप जसे यहां धर्मद्रव्य जाना जा रहा है, सो ऐसा जो अपने आपमें विकल्प है वह ज्ञायमानाध्यवसान है। जानन अध्यवसान

नहीं है किन्तु मैं इसे जान रहा हूं इस रूपसे जो ज्ञायमानमें अध्यवसान है वह अध्यवसान भी मुनियोंके न हो तो उनकी उत्कृष्ट ऋद्धि होती है।

तीनों अध्यवसानोंका समाहार— मैं करता हूं, मैं दुःखी सुखी करता हूं आदि क्रियावोंमें लगाव हो तो क्रियावोंका अध्यवसान है और मैं इसे जान रहा हूं ऐसा जाननेका विकल्प उठाना सो यह ज्ञायमान अध्यवसान है। जानन ज्ञानका स्वभाव है, पर मैं इसे जान रहा हूं इस प्रकारका जो विकल्प है वह स्वभाव नहीं है। जानना तो स्वभाव है। तो ज्ञान सम्बन्धी जो विकल्प होता है वह है ज्ञायमान अध्यवसान।

ज्ञायमानाध्यवसान और आत्मतत्त्वमें अन्तर न माननेका फल— आत्मा तो ज्ञानमय है। ज्ञान एक स्वरूप है जो कि सत् है और अहेतुक है। 'मैं जान रहा हूं' इस प्रकारका जो विकल्प है उसमें निमित्त तो कर्मोदय है पर जाननमें निमित्त कर्मोदय नहीं है। जानना आत्माका स्वभाव है। तो जो शुद्ध अहेतुक एक ज्ञानस्वरूप है ऐसे इस आत्माके और ज्ञेय हो रहे हुए धर्मादिक द्रव्योंके विशेष अन्तरको यह नहीं जान रहा है सो यहां उन ज्ञायमान पदार्थोंसे भिन्न अपने आत्माका ज्ञान न करनेसे अज्ञान बना हुआ है और इस विविक्त आत्माका दर्शन न होनेसे अदर्शन है और इस विविक्त आत्माका जैसा सिद्ध किया जाने योग्य कार्य है, ज्ञप्ति है, राग ...या है ऐसी क्रियाका आचरण न होनेसे इसके अचारित्र होना है।

प्रभुदर्शनके लिये परसे विविक्त होनेकी आवश्यकता— यों समझ लो भैया! कि अपने भगवानसे मिलनेके लिए तुम्हें कितनी बाह्य बातोंसे दूर होना है और यह चाहो कि परके बच्चोंमें भी मोह रहे, उनका भी राग करते रहें और मंदिर आएँ हाथ जोड़ें, पूजाका पाठ पढ़ जाएँ और धर्म पूरा कर लिया सो ऐसे संतोष न करो। यहां तो हम सीखने आते हैं कि प्रभुका ऐसा स्वरूप है, १८ दोषोंसे रहित है, ज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न है और भावना करने आते हैं कि हे प्रभो! मेरे भी विषय कषाय दूर हों। जिस मार्गसे चलकर आपने इन्द्रिय विजय किया, मोह दूर किया, केवल ज्ञान उत्पन्न किया, कृतार्थ हुए आप, ऐसा ही मुझमें बल प्रकट हो, ऐसी भावना करने यहां आते हैं, शिक्षा लेने आते हैं, कुछ इस प्रकारका ध्यान जमाने यहां आते है और उस प्रभुताकी स्वच्छता पर अनुराग भक्ति प्रगट करने आते हैं।

व्यवहारमें भी परमार्थप्रतीति— भैया! प्रेक्टीकल करनेका काम तो मंदिरसे बाहर जाकर बाकी २३-२३॥ घंटे पड़े हुए हैं तब आत्मबल प्रबल करना है। वह क्या कि गृहस्थावस्थामें रहकर यद्यपि सब कुछ करना

पड़ता है, दुकान भी घर भी फिर भी, हम यथायोग्य अपनी ओरसे स्वभाव की प्रतीति रखकर ऐसा भाव बनाए रहें कि यह सब करना पड़ रहा है पर करनेका काम तो मेरी शुद्ध ज्ञप्ति क्रियाका ऐसा परिणाम रहे, यह है करनेका काम और इसके विपरीत किसी भी प्रकारका लगाव है तो वह बंधका ही कारण होता है। जिन साधुजनोंके यह अध्यवसान नहीं होता है वे मुनि श्रेष्ठ हैं। वे मुनिजन अपने इस विविक्त आत्माको जानते हैं। विविक्तका अर्थ है सबसे निराला। मायने उस विविक्त आत्मस्वरूपकी भावना भोगते हैं।

अपना परमार्थ कार्य— हम व्यवहार क्रिया करें फिर भी प्रतीति ज्ञानकी यह रहे कि हमें इन व्यवहार धर्मोंसे भी आगे परे जाना है। तो मैं आत्मा भगवान सत् अहेतुक जानन क्रिया मात्र हूं। कोई पूछे कि तुम्हारा असली काम क्या है ? तो उत्तर होना चाहिए कि केवल जाननहार रहना, यही हमारी असली क्रिया है। पर मैं इस फंदेमें पड़ गया हूं। तो करनेके विकल्पमें दूसरेको अपना माननेके विकल्पमें अपने आपके विकल्प के विरुद्ध कुछ बात दिखे तो क्षोभ आता है और अनुकूल बात दिखे तो प्रेम बढ़ता है, इस प्रकारके व्यापारमें रहा करते हैं। तब फिर करना क्या है ? केवल एक शुद्ध ज्ञाता रहनेका काम तो यह तो हो नहीं पाता। तो कोशिश करें। वह कोशिश क्या है ? स्वाध्याय करें, देव भक्ति करें, गुरु सत्संग करें, गुणोंका अनुराग रखें, दूसरेके दोषोंपर दृष्टि न दें। सच्चाई के साथ अपना व्यवहार रखें, इन सब कोशिशोंमें रहकर अपने इस ज्ञायक स्वरूपके अनुभव करनेका पात्र रहा जा सकता है।

साधुवोंका साधुज्ञान— साधुजन सत् अहेतुक ज्ञप्ति क्रियामय अपने आत्मस्वरूपको जानते हैं। यह मैं ज्ञायक मात्र हूं, चैतन्य हूं जो कि अहेतुक है, जिसे किसी ने घड़ा नहीं है, बनाया नहीं है, किसी दिनसे इस मुझकी सृष्टि नहीं हुई है, मैं अनादिसे अकारणक हूं, किन्हीं कारणोंसे मेरी उत्पत्ति नहीं हुई है, मेरा सत्त्व स्वतःसिद्ध है, ऐसे ज्ञायकस्वरूप निज आत्माको ज्ञानी संत पुरुष जानते हैं और जानते हैं कि जो विकल्प उठता है, आकार होता है वह परिणमन है। मैं तो उसके आधारभूत ध्रुव ज्ञानस्वभावरूप हूं, ऐसे सबसे निराले अपने आत्माको जानते हुए वे मुनि जन अपने आत्माको देखते हैं, जानते हैं और उनकी यह ज्ञानवृत्ति ज्ञान-प्रकाश बड़ी तेजीसे स्वच्छरूपमें एकदम स्वच्छन्द होता हुआ फैल जाता है। उसमें किसी की रुकावट नहीं होती है।

ज्ञानियोंके ज्ञानभावकी स्थिरता— ऐसे ज्ञानीसंतोंके अज्ञानरूपता

का अभाव हो जाता है। इस ही कारण वे शुभ अथवा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मोंसे लिप्त नहीं होते हैं। यहां यह बात बतलायी गई है कि जिस जीव के इस प्रकारका भेदविज्ञान नहीं होता वह तो मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री है और जिसके भेदविज्ञान हुआ वह सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक्चारित्री हुआ। इसकी स्थिरता जैसे जैसे होती जाती है वैसे ही वैसे सम्यक्चारित्र भी बढ़ता जाता है। फिर उसके कर्मबंध नहीं होता है।

अध्यवसानका काल— तो फिर यह जीव कितने समय तक परभावोंसे अपनेको जोड़ा करता है जब तक संकल्प विकल्प उठते हों तब तक यह परभावोंमें लगा रहता है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञानमात्र है, यही आत्माकी ऋद्धि है। पर यह जीव अज्ञानी जीव आत्माकी ऋद्धिका ग्रहण नहीं करता। चेतन अचेतन बाह्य परिग्रह इनकी ऋद्धि जोड़ने में, संचय करनेमें अपना बड़प्पन मानता है। इतिहासोंमें पढ़ो, पुराणोंमें पढ़ो बड़े बड़े राजा महाराजा पुरुष भी आखिर अपना जीवन छोड़कर चले गए। तो यहां जिसके संकल्प विकल्प नहीं होता उन्हें ही इस आत्माकी ऋद्धि प्राप्त होती है। जब तक आत्मस्वरूपविषयक ज्ञान नहीं जगता तब तक स्त्री पुत्रादिकमें यह संकल्प विकल्प किया करता है और अपने अंतरङ्गमें हर्ष विषाद रूप परिणाम करता है यही तो अज्ञान है और जब तक अज्ञान है तब तक इसको अपने आप कष्ट है। कोई कष्ट बाहरसे लाना नहीं पड़ता। अपना ही ज्ञान बिगाड़ा तो कष्ट हो गया।

ज्ञानका प्रताप— बड़े-बड़े योगीश्वर जंगलमें रहकर शेरोंके आक्रमणके बीच भी अपने आपको जो सावधान रखते हैं, प्रसन्न और संतुष्ट रखते हैं वह उनके इस ज्ञानका ही प्रताप है। विषाद तो तब होता है जब बाह्य पदार्थोंमें ममता होती है और बाह्य पदार्थोंमें ममता नहीं है तो वहां विषाद नहीं जगता है। सो ऐसा यत्न करो, ऐसा ज्ञान बढ़ावो, ऐसी शुद्ध आत्माकी भावना करो कि यह मोह मिट जाय। सबसे घोर दुःखदायी कुछ है तो मोह है।

मोहकी घृणितता— भैया! इस जगत्में सबसे घिनावना, न देखने लायक यदि कुछ है तो वह मोह है। लोग कहते हैं कि ये नाक, थूक मल मूत्र, पसीना गदी चीजें हैं। भला यह बतलावो कि ये बेचारे पुद्गल, जिनमें रूप, रस, गंध स्पर्श है, किसीसे बोलते नहीं, छेड़ते नहीं, उन बेचारोंसे घृणा करें और जिसने इन्हें घिनावना बनाया है उससे प्रीति नहीं छोड़ते हैं। इन नाक, थूक, मल, मूत्र आदिक को घिनावना किसने

बनाया है ? इस शरीरने। चलो शरीरने ही सही। इस शरीरके ही कारण तो ये चीजें घिनावनी बनीं, पर यह तो बतलाओ कि इस शरीर को भी किसने घिनावना बनाया ? क्या बोलोगे ? क्या कर्मोंके उदयने घिनावना बनाया ? अच्छा यह ही सही, कर्मोंके उदयने ही बनाया पर उन कर्मोंको किसने बनाया ? बनाने वाला तो निश्चयदृष्टिसे कर्मोंका उपादान ही है। मगर कर्म अपनी ओरसे अपने स्वभावसे नानारूप नहीं होते। कोई उसमें निमित्त होता है तब नाना रूप होते हैं। तो वे क्या हुए ? निमित्त। जिनका निमित्त पाकर कर्मबंध हुआ। रागद्वेष किया तो कर्म बंध हुआ, विपाक हुआ, शरीरकी रचना हुई। तो यह राग द्वेषपरिणति घिनावनी चीज निकली। तो रागद्वेषको किसने बनाया ? उसका मूल कारण क्या है ? तो रागद्वेषका मूल कारण है मोह। तो सबसे घिनावनी चीज क्या रही ? मोह।

इस घिनावने मलिन मोह परिणामसे रागद्वेष हुए। रागद्वेष निमित्तसे कर्मबंध हुआ और कर्मोदयके निमित्तसे यह पर्याय-रचना हुई और वहां ये मल, थूक वगैरह हुए। जीवने जब तक इस शरीरवर्गणाको ग्रहण न किया था तब तक क्या घिनावना था ? अरे यह पुद्गल तो सामान्यरूपसे रूप, रस, गंध, स्पर्श सहित पवित्र निराला था, शुद्ध था, इसमें घिनावनेपनकी कोई बात न थी, पर इस मोही जीवने जब उन्हें अंगीगार किया तो कुछ कालके बाद ही घिनावनेपनका परिणमन बन गया। तो मूलसे किसने घिनावना बना दिया ? इस मोहने। सबसे अधिक घिनावनी चीज है तो वह मोह है।

मोहसे आत्माका बिगाड़— यह मोह इन तीन प्रकारके अध्यवसानोंके रूपमें फूट निकला है। यह अध्यवसान मोहका रूप रख रहा है, जो रागद्वेषसे भी कठिन मलिन है। रागद्वेष आत्माका उतना बिगाड़ नहीं कर पाते जितना बिगाड़ मोहसे होता है। मोह अंधकार है, उस मोहांधकारमें कल्याणका मार्ग नहीं सूझता। कल्याण तो है अपनी जाननमात्र क्रिया बनाए रहनेमें, पर मोहसे सुख दुःख, जीवन मरण आदि करनेका विकल्प करने लगा। इसका आश्रय तो स्वाभाविक था ज्ञायकस्वरूपका अनुभव। किन्तु यह ज्ञायकस्वभाव अनुभवसे चिगकर अनुभव करने लगा कि मैं स्त्री हूं, पुरुष हूं, नाना प्रकारके परिणमनोंमें अपना लगाव रखने लगा। यह मोहका ही तो प्रभाव है। स्वयं सहज कैसा है, उस आत्मतत्त्वको न जाना।

प्रभुका उपदेश— भैया ! इसका स्वाभाविक अनुभवन तो था ज्ञानमात्र ज्ञानस्वभावमात्र। पर उस ज्ञानकी वृत्तिमें जो ज्ञेय आया, विकल्प

आया सो जानने लगा कि मैं जाननहार हूं, मैं जानने वाला हूं, इस प्रकार का विकल्प भी अध्यवसान है। जानन अध्यवसान नहीं है। सो जब तक इस प्रकारका मोह, संकल्प विकल्प, हर्ष, विशाद इस जीवमें रहते हैं तब तक आत्मामें विकास नहीं जगता और शुभ अथवा अशुभ कर्मोंका बंध करने वाली क्रियावोंको करता रहता है। अपनेको सबसे निराला समझने का यत्न करो, प्रभुका यही उपदेश है।

प्रभुकी वास्तविक भक्तिसे अलगाव— जैसे कोई अपने पिताका वचनोंसे तो सत्कार करे, मीठे वचन बोले, पर बात एक न माने तो उसे पिताका सेवक नहीं कहा जा सकता। उन मीठी बातोंसे ही पिताका पेट भरे और खानेको रंच न पूछे, ऐसा कोई चालाक बालक हो तो उसे पिता का सेवक नहीं कहा जा सकता। इसी तरह हम मीठी बातोंसे भगवानका दर्शन कर आयें पर भगवानकी बात एक भी न मानें, अपने मोहमें फर्क न डालें, रागद्वेषमें अन्तर न डालें, कहो मंदिरकी ही वेदीमें खड़े खड़े गुस्सा करने लगें तो बात तो प्रभुकी एक भी न मानी ना। अंतरमें विचारो कि इस प्रकारके परिणाम रखकर कोई भगवानका सेवक कहला सकेगा क्या ?

प्रभुकी वास्तविक भक्ति— भैया ! न भी बने प्रभुके उपदेशोंका पालन, किन्तु इतना ख्याल तो बना लेना चाहिए कि करने योग्य काम तो प्रभुके उपदेशमें यह बताया है पर मुझसे बनता नहीं है। इतना भी कमसे कम ख्याल हो तो भी समझना चाहिए कि हम प्रभुके सेवक हैं। यह अध्यवसान परिणाम जिन ज्ञानी संत पुरुषोंके नहीं होता है वे किसी भी प्रकारके कर्मोंसे लिप्त नहीं होते। जिन्हें कर्मोंसे छूटना है वे कषाय न करें। कषाय न करने का प्रोग्राम न चाहिये तो उन्हें चाहिए कि मोह परिणाम न करें। ऐसा किया जा सका तो समझिये अब हमने प्रभुभक्ति करना शुरू की है।

अज्ञानमय अध्यवसानका दुष्परिणाम— जो जीव निज शुद्धज्ञायक स्वरूपके अतिरिक्त और जाननमात्र कामके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके करनेमें लग गए, अन्य पदार्थोंको अपना माननेमें लग गए तो वे पुरुष मोही हैं और मोहके फलमें उन्हें रागद्वेष अवश्य होंगे और जहां रागद्वेष किया वहां संसारमें फंस गया समझो। जन्म मरणके चक्रोंसे यह मोही जीव नहीं छूट सकता, ऐसा जानकर एक ही भाव बनावो कि मोह न रहे, ममता न रहे। अपने आपके स्वरूप की खबर बनी रहे। यदि यह काम किया जा सका तो समझो कि हमने यह मनुष्य-जीवन पाकर कुछ कार्य किया। नहीं तो जन्म मरण तो लगा ही चला जा रहा है। जैसे अनन्तभव

बिता दिए वैसे ही यह भव भी व्यतीत हो जायेगा।

अपनी संभाल— अब भी संभल जायें तो बड़ी विशेषताकी बात है। सो हर एक यत्न करके ज्ञानको बढ़ानेकी भावना होनी चाहिए। पढ़ करके स्वाध्याय करके, चर्चा करके, ध्यान बनाकर, भावना करके, जो समझा है उसका लक्ष्य करके किसी भी क्षण अपने आत्माके ज्ञानसुधा रसको एक बार चख तो लो। यदि ज्ञानसुधा रसका स्वाद लिया जा सका तो उसके प्रतापसे नियमसे कभी संसार कट जायेगा, मुक्ति नियमसे होगी। जिसने अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया है वह निकट भविष्यमें शुद्ध हो ही जावेगा।

प्रकरणप्राप्त शिक्षा— सो इस गाथाके सुननेसे यह शिक्षा लेना है कि इस जीवका मात्र जाननका काम है। हम यह जानें कि मेरा स्वरूप तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, हम तो एक आकाशवत् निर्लेप अमूर्त किन्तु ज्ञानज्योति करके स्वच्छ चेतन पदार्थ हूं। जैसे हम स्वतन्त्र हैं तैसे ही स्वतन्त्र समस्त पदार्थ हैं, ऐसा जानकर मोह ममतासे दूर होकर अपने आपकी ओर झुके रहनेका यत्न करना चाहिए। इस तरह ज्ञानमार्गमें बढ़ने वाले ये मुनिजन अपने ज्ञानमय भावके कारण शुभ अथवा अशुभ कर्मोंसे लिप्त नहीं होते।

अब इस अध्यवसानका कई नामों द्वारा वर्णन करते हैं।;

बुद्धी ववसाओ वि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं।
एकट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

अध्यवसानके पर्यायनाम और प्रथम चारका संक्षिप्त निर्देश— बुद्धि व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव और परिणाम—ये ८ अध्यवसानके नाम हैं। ये आठों ही प्रकारके अध्यवसान स्व और परका विवेक न होने से बंधके कारण होते हैं। अध्यवसानका अर्थ है खोटा परिणाम, ज्ञानातिरिक्त भावोंमें लगाव। मेरे सहजस्वरूपके अतिरिक्त जो परिणमन हैं, वे अध्यवसान हैं। बुद्धि कहते हैं समझनेको। स्व और परका जहां भेदविज्ञान नहीं है ऐसी स्थितिमें जो भी समझ बनती है वह अध्यवसान है, बंधका कारण है। व्यवसाय कहते हैं पुरुषार्थको, प्रयत्नको उद्यमको। आत्मा और अनात्माका भेद न होने पर जो भी यत्न होते हैं वे यत्न भी अध्यवसान हैं, वे भी बंधके कारण हैं। मति कहते हैं मननको मनन होना, चिंतन होना, उसमें विशेष तर्क सहित विचार बोलना यह भी तो आत्मा और अनात्माका भेदविज्ञान न होने पर होता है, तो वह भी अध्यवसान है।

विज्ञान और अध्यवसानका निर्देश— आत्मतत्त्व और अनात्मतत्त्व

का भेद ज्ञात न होने पर जो विज्ञान चलता है वह विज्ञान भी अध्यवसान है और अध्यवसान कहते हैं निश्चयको। आत्मा और अनात्माका विवेक न होने पर जो यह जीव अपना निर्णय किया करता है वे सब निर्णय अध्यवसान हैं। जिस जीवको अपने स्वरूपका पता नहीं है और परके स्वरूपका पता नहीं है उसका निर्णय जो कुछ भी होगा वह अज्ञानरूप निर्णय होगा, क्योंकि उसे अपने स्वभावका पता नहीं है। तो वह निर्णय करेगा बाहरी पर्यायोंका उनको सर्वस्व द्रव्य मानता हुआ निर्णय करेगा। वह निर्णय अध्यवसान है, स्वभाव नहीं है। चितृवा जो होना है, जीवका जो कुछ हो रहा है अविवेक स्थितिमें हो तो वह होना भी अध्यवसान है।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान-- भैया ! मूल बात तो आत्मा और अनात्माके भेदके ज्ञान होने या न होने पर निर्भर है। भेदविज्ञान जिस जीवके होता है उस जीवके बाहरमें चाहे वह कोई रस्सीका सांप भी जान ले फिर भी उसके सम्यग्ज्ञानमें फर्क नहीं होता। जो कुछ भी वह पुद्गल पिंड जान रहा है उस सम्बन्धमें उसे पूरा निश्चय है कि यह पौद्गलिक है, परमाणुवोंका पुञ्ज है। इन्हीं परमाणुवोंके उपादानमें यह प्रकट हुआ है। इसमें अणु अणु सब भिन्न-भिन्न सत् हैं। पर उसका एक पिण्डरूप बंधन है। सब कुछ ज्ञान उसके बराबर बना हुआ है और जिसको आत्मा और अनात्माका भेद ज्ञात नहीं है वह पुरुष सांपको सांप जाने, रस्सीको रस्सी जाने तो भी उसके मिथ्याज्ञान कहा गया है क्योंकि उसे यह जानकारी है कि यह रस्सी है। इसके सम्बन्धमें स्वरूप व कारणकी जानकारी नहीं है। लोक व्यवहारमें जितना कुछ समझ पाया उस समझके अनुसार उसकी गति चल रही है।

अज्ञानीके ज्ञात वस्तुके स्वरूपका अनिर्णय-- यह रस्सी क्या चीज है? विनाशीक है या अविनाशी है, यह किन उपादानोंसे उत्पन्न होता है किनका निमित्त पाकर क्या परिस्थिति होती है? न स्वरूपका पता है, न कारणका पता है, न कोई परिस्थितिका पता है। ऐसी स्थितिमें रस्सीको रस्सी भी जाने तब भी मिथ्याज्ञान है। जिस जीवने अपने आत्माका और अनात्माका यथार्थ विश्लेषण नहीं किया है वह पुरुष जिस-जिस रूप भी बनता है, होता है, वह सब होना अध्यवसान है। अध्यवसानका अर्थ है—ज्ञानभावको छोड़कर बाकी समस्त परभाव, अहितरूप भाव।

परिणामरूप अध्यवसान व आठोंका निष्कर्ष-- इसी प्रकार इस चेतनका जो भी परिणमन होता है, परिवर्तन होता है वह परिणाम भी स्व और परके भेदविज्ञान बिना हुआ वह अध्यवसान है। ये सब एकार्थक

है। इनका जो मूल स्वरूप है वह सब एकार्थक है। इस अध्यवसान परिणाम से यह जब संसारमें डोलता है तो कहते हैं कि जीवको चैन नहीं है। आकुलता बसी हुई है। कोई सुखमें नहीं रह रहा है। किसीके मनमें कोई क्लेश है, किसीके मनमें कोई क्लेश है। क्लेशका अनुभवन करता हुआ स्वपरके अविवेकमें परिणमता हुआ यह जगत् संसार चक्रमें जन्ममरण करता फिर रहा है। क्लेश मिटानेकी जरासी तो औषधि है कि समस्त बाह्यपदार्थोंकी आशाको त्याग दें। रहना तो कुछ भी साथ नहीं है, मिट तो जायेगा, आशा क्यों नहीं छोड़ी जाती है? हमारे साथ रहेगा कुछ नहीं। वियोग हो जायेगा। सब अपने-अपने स्थानके हैं किन्तु इनकी आशा नहीं छूटती। व्यर्थकी आशा लगाये हैं। जबरदस्ती छूट जाने पर भी नहीं छोड़ना चाहते। आशा छोड़ दें तो अभी दुःख मिट जाय।

क्लेश और क्लेशमुक्तिका उपाय— भैया! कौनसा दुःख है जीवों पर सिवाय आशाके लगावके? आशा छूट सकती है तो आशारहित शुद्ध ज्ञानस्वभावकी दृष्टिसे छूट सकती है। अमोघ उपाय अपने आपमें वर्तमान है और आशारहित केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपकी प्रतीति न हो और जैसे कि सुन रखा है, लोगोंने समझ रखा है उस पद्धतिसे मात्र बाह्य उपाय करते रहें, चीज छोड़ दें, किसी और धर्मकार्यमें लग गए तो भले ही थोड़े समयको महान् क्लेश मिटकर संतोष हो जाय, लेकिन फिर वह आशा उखड़ जाती है। आशाका जिसने परित्याग किया वह जीव सुखी रहता है और जिसके आशाका लगाव रहता है वह दुःखी रहता है। अपनी अपनी बातें सब सोच लो। कहां-कहां आशा लगा रखी है? आशाका लगाव न रहे तो सारे क्लेश अभी दूर हो सकते हैं।

बन्धके कारण और कारणके कारण— अपने स्वभावको छोड़कर अन्य भावोंमें अपना स्नेह करना, लगाव रखना ये ही तो सर्व अध्यवसान हैं। सो रागादिक अध्यवसानोंका कारण बाह्य वस्तु है। और रागादिक अध्यवसान बंधका कारण है। जीवके साथ जो कर्म बँधते हैं उन कर्मोंके बँधनेका कारण उनका रागद्वेष भाव है। राग करते और दुःखी होते हैं। रागद्वेष जो उत्पन्न होते हैं वे किसी न किसी परवस्तुका आश्रय करके होते हैं। किसी भी परवस्तुका ख्याल रहता है तो वहां रागादिक होते हैं। तो बंधके कारण हैं ये रागादिक और रागादिकके कारण हो रहे हैं ये बाह्य पदार्थ। इसलिए बाह्य पदार्थोंका त्याग कराया गया है। पर केवल बाह्यपदार्थोंके त्याग करने मात्रसे कर्मबंध नहीं रुकता किन्तु बाह्यपदार्थविषयक जो रागद्वेष भाव चला करते हैं वे सभी राग परविषयक हुआ

करते हैं, उन रागादिभावोंका परिहार कर देनेसे कर्मबंध दूर होते हैं।

दृष्टि, प्रवृत्ति व निवृत्तिका उदाहरण— इस प्रकरणमें अध्यवसान का परित्याग कराया गया है। सभी वस्तुवोंमें अध्यवसानको त्याज्य बताया है। जिनेन्द्र प्रभुने जब सभी वस्तुवोंमें अध्यवसान करना त्याज्य बताया है तो इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त व्यवहार त्याज्य बताया है। यहां अपने हितके लिए अपनी सिद्धिकी बात कही जा रही है। व्यवहारमें रहते हुए भी व्यवहारसे परे शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टि करना, यही कल्याणका मार्ग है। व्यवहारको बिगाड़ लेना यह भी कल्याणका मार्ग नहीं है और व्यवहारसे दूर रहकर केवल कल्याणमार्गकी चर्चा कर लेना, यह भी मार्ग नहीं है।

शुद्धोपलब्धिके पूर्व प्रवृत्ति और निवृत्ति— जैसे कोई सीढ़ियोंको ही पकड़कर रह जाय कि ये सीढ़ियां तो ऊपर चढ़ानेमें कारण हैं, हमारा भला करने वाली हैं, हम इन सीढ़ियोंके प्रसादसे ऊपर पहुंच जाते हैं। इस लिए हे सीढ़ियों तुम हमें बहुत प्रिय हो, सीढ़ियोंको छुवा करके ही रह जायें तो ऊपर पहुंचना कसे बन सकता है, और कोई नीचे ही खड़ा रहे व सोचे कि ऊपरका स्थान तो सीढ़ियोंसे बिल्कुल अलग चीज है, सीढ़ी तो त्याज्य हैं, उनको तो छोड़ना ही पड़ता है, ऐसा जानकर नीचे खड़े ही खड़े ऊपरके गुण गाता रहे, सीढ़ी पर चढ़कर न आए तो भी ऊपर नहीं पहुंच सकता है। जैसे हम आपके व्यवहारमें यह काम सहज चलता है कि हम सीढ़ियोंसे चढ़ते हुए और छोड़ते हुए चले जाते हैं और ऊपर पहुंचते हैं, इसी प्रकार व्यवहारकी प्रवृत्तियां होती हैं और उन व्यवहारोंमें पूर्व पूर्वके व्यवहार छोड़ते जाते हैं, उत्तर के व्यवहारमें लगते हैं। फिर उसे छोड़कर आगे व्यवहारमें लगते हैं, लेकिन यह पूर्व व्यवहारको छोड़ना उत्तर व्यवहारमें लगना यह शुद्ध कैवल्यकी प्राप्तिके लिए हो रहा है।

अध्यवसानके त्यागमें प्रवृत्तिका त्याग— भैया! यथार्थ दृष्टि जगे, ज्ञानप्रकाश बने तो सब बातें सुगम हो सकती हैं। तो समस्त ही पदार्थोंमें हमारा अध्यवसान न होना चाहिए। राग न हो, किसी परपदार्थका ख्याल तर्क, मनन यत्न ये न हों, परपदार्थविषयक अध्यवसान न हो तो फिर क्या व्यवहार करे? कहते हैं कि परका ख्याल न करो और व्यवहार बनता है परका ख्याल रख कर। आत्मतत्त्वसे भिन्न जो कुछ अनात्मतत्त्व है उनका किसी न किसी प्रकार आलम्बन रखकर व्यवहार बनता है। जब अध्यवसानका त्याग कराया गया है तो उसका अर्थ यह है कि व्यवहारका ही त्याग कराया गया है क्योंकि परका आश्रय छुड़ाया गया है।

परका आश्रय करके अपने आपको हितके मार्गमें पहुंच सकनेका परिणाम रखना मिथ्याभाव है। निजका आश्रय करनेके लिए परका जो आश्रय किया जाता है वह व्यवहार धर्म है और केवल परके ही लक्ष्यसे परमें ही रमते हुए परका आश्रय करना सो कल्याणमार्गमें बाधा है।

परके आश्रयका त्याग— सो हे कल्याणार्थी जनो! आचार्यदेवने सर्व प्रकारसे परका आश्रय छुड़ाया है, इसका अर्थ यह समझना कि सभी प्रकारका व्यवहार छोड़ना है, पर कोई व्यवहार वृत्तिमें तो न हो और पहिलेसे ही छूटा हुआ अपनेको रखे तो उसके लिए यह उपदेश नहीं है। वे तो निश्चयाभासी अज्ञानीजन हैं किन्तु उस शुद्धस्वभावकी दृष्टि इतनी तीक्ष्ण हो जाय कि उसकी प्राप्तिके लिए हमारा सारा उद्यम चलने लगे और उन उद्यमोंको करते हुए हम उन उद्यमोंसे परे आत्मस्वभावका लक्ष्य करने लगें तो हम उस ध्येय पर पहुंच सकते हैं। सब ही वस्तुवोंमें समस्त अध्यवसानोंका त्याग कराया गया है। उसका अर्थ यह है कि समस्त परद्रव्योंका आश्रय छूट गया है। जो संतपुरुष हैं वे भली प्रकार इस निश्चयको ही निश्चल अंगीकार करके शुद्धज्ञानस्वरूपकी महिमामें स्थिर होते हैं।

व्यवहार— परवस्तुके त्यागका चरणानुयोगमें उपदेश है। उसका मतलब यह है कि मनसे, वचनसे, कायसे किसी परवस्तुका आश्रय मत करो। अपने मार्गका सही दर्शन हो जाने पर फिर वृत्ति करना सुगम हो जाता है। पहिले निर्णय करो कि हे आत्मन्! तेरे हितको क्या दूसरा कोई कर सकता है? हां जब तुम अशुभोपयोगमें और अशुभोपयोगकी धारणावोंमें चल रहे हो तो उनसे बचनेके लिए शुभोपयोग करो, स्वाध्याय करो, चर्चा ज्ञान करो, प्रभुकी भक्ति करो ताकि उपयोग अशुभभावोंमें न जाय। जब प्रभुके शुद्धस्वरूपपर दृष्टि होती है और अपने आपके वर्तमान पापकी वृत्तिका परिज्ञान रहता है उस समय ऐसा प्रायश्चित्त होता है और प्रायश्चितपूर्वक ऐसा भाव होता है कि प्रभुके गुणानुरागके कारण पाप कट जाते हैं। सो भिन्न-भिन्न पदवियोंमें करने योग्य भिन्न भिन्न क्रियायें हैं। उन सर्व स्थितियोंमें भी एक सहज स्वरूपको निश्चल अंगीकार करो और अपने आत्मस्वभावमें स्थिर हो। केवल रटंत तो काम न देगा। कोई चीज सुन रहे हैं, जान रहे हैं, उस रूप अपने आपमें इन भावोंका परिणमन बने तो उससे सिद्धि होती है।

मर्मकी अनभिज्ञतापर एक दृष्टान्त— एक तोता था किसी पंजाबी के घरमें। उसने तोते की एक बात सिखा रखा था। "इसमें क्या शक? और कोई बात बोलना न जानता था। कोई ब्राह्मण आया। तोता जरा

रंगका भी सुन्दर था। ब्राह्मण ने मालिकसे पूछा कि क्या तोता बेच सकते हो? बोला—हां बेचेंगे। कितनेका दोगे? यह १०० रु० का मिलेगा अरे तोतेकी कीमत कहीं १०० रु० होती है? तो वह बोली कि इस तोतेसे पूछ लो ना। ब्राह्मण पूछता है कि क्यों तोते, क्या तुम्हारा मूल्य १००) है? तो तोता क्या बोला? इसमें क्या शक? ब्राह्मणने सोचा कि यह तोता तो बड़ा विद्वान् मालूम होता है। कितना तर्क पूर्ण उत्तर इस तोते ने दिया। वह १००) में खरीदकर अपने घर ले आया। अच्छे पिंजड़ेमें रख दिया, दूध रोटी खिलाया।

दूसरे एक दिन बाद ब्राह्मण अपनी रामायण लेकर उसे सुनाने लगा। रामका चरित्र बोला। क्यों तोते सही बात है ना, तो तोता क्या बोला? इसमें क्या शक? उसने सोचा कि यह तो इससे भी अधिक विद्वान् है। सो जरा चारित्रकी चर्चा करने लगा। क्यों यह ठीक है ना? तोता बोला इसमें क्या शक? सोचा कि यह तो इससे भी अधिक विद्वान् है। सो ब्रह्मस्वरूपकी चर्चा करने लगा कि यह ब्रह्म अखण्ड, अहेतुक अविकारी है, क्यों यह ठीक है ना, तो बोला—इसमें क्या शक? अब तो ब्राह्मणको शक हो गया। वह पूछता है कि हे तोते! मेरे १००) क्या पानीमें चले गए? तो बोला—इसमें क्या शक? एक ही रटंत थी उसकी।

हितरूप परिणमनेसे लाभ— तो भैया! हमारी शुद्धस्वरूपकी चर्चा करनेकी रटंत बन जाय, अभ्यास बन जाय, तो उससे काम नहीं बनता है। किन्तु जैसा हम समझते हैं उस अनुकूल अपने अन्तरका भाव बनाएँ, उस प्रकारका कुछ परिणमन करें तो उससे लाभ मिलेगा। जिनेश्वर भगवानने अन्य पदार्थोंमें जो आत्मीयताका लगावरूप परिणाम होता है उसे छुड़ाया है। जहां यह उपदेश दिया जाता कि परका बिल्कुल लगाव छोड़ा, उसका अर्थ यह हुआ कि सर्व व्यवहार प्रवृत्तियां छूट गई। तो जहां अन्तरसे आश्रय छूट जाता है वहां अन्तरमें शुद्ध व्यवहार रहता है, जाननरूप व्यवहार रहता है। मन, वचन, कायकी क्रिया रूप व्यवहार नहीं रहता है। इस कारण अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप आत्मामें स्थिरता रखो—ऐसे शुद्ध आत्माके ग्रहणका उपदेश दिया है।

स्वाधीन उपाय न किये जानेका आश्चर्य— यहां आचार्य देव यह आश्चर्य कर रहे हैं कि जहां अपने आराध्य भगवंतोंने यह उपदेश दिया है, अध्यवसानको छोड़नेकी बात कही है तो ये जगत्‌के जीव इस अध्यवसानको छोड़कर क्यों आत्मस्वरूपमें स्थिर नहीं होते हैं? हम जाते हैं मंदिरमें और भगवानसे बड़ा अनुराग दिखाते जाते हैं कि भगवानके नाम

की मूर्ति जो अचेतन है। जो बोलती नहीं है, कुछ ऐसा भी नहीं है कि कभी कोई भक्त बहुत भूखे हों तो उन्हें खिला भी दें, ऐसे भगवानके अमन्द अनुरागमें आकर जिनकी मूर्तिको हेय पूजते हैं और सिर रगड़ते हैं, पर भगवान का एक उपदेश या तो जानते नहीं और जानते भी हैं कि सर्व प्रकारके परका आश्रय छोड़ो यह प्रभुका आदेश है और विनतियोंमें पढ़ भी जाते हैं लेकिन छोड़ते नहीं। अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेका यत्न नहीं करते।

भावशून्य रटंत— भैया! कहो वही पढ़ते रहें— 'आतमके अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय' और कहो गुस्सा भी होते रहें। यह सब रटंत है। रट लेने से ही कार्य नहीं निकलता किन्तु अपने आपके उस प्रकारके परिणाम बनानेसे कार्य निकलता है। सो भगवान का यह उपदेश समझकर कि सर्व परपदार्थों का आश्रय तजना है। परका आश्रय तजें और अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हों, यह मात्र उत्कृष्ट कर्तव्य हमारे इस जीवनमें है। पर का संग्रह विग्रह करके, संचय करके, देख देख कर क्या करोगे?

असारके अर्थ श्रम— भैया! जब छोटे हैं तब यह इच्छा होती है कि हम खेलें। खेलने से जब पेट भर गया, कुछ और बड़े हो गए तो यह इच्छा हुई कि पढ़ें। पढ़ने से पेट भर गया तो यह इच्छा होती है कि उपाधि मिले। उपाधि मिल गई, उपाधिसे छक गया तो इच्छा होती है कि घर बसायें, धन बढ़ायें। धन बढ़ गया। अब क्या करना है? क्या होगा अब? धन रखनेकी चिंता करेंगे। कहां धन रखना है? इस चिंतामें जीवन खोया, फिर क्या होगा? शरीर तो समयके अनुसार बदलता ही रहता है ना, सो अब बूढ़े होने पर अगर अपने पल्ले कुछ पैसा बचा है तो लोग खुशामद करेंगे, सेवा करेंगे या जहर आदि खिलाकर मार देंगे। जल्दी मरे तो रकम मिले। बूढ़े हो गए, मान लो किसीके मारे न मरे तो स्वयं आयुका क्षय हो जायेगा। तो मर कर चले गए, साराका सारा ठाठ यहीं पड़ा रह गया। क्या होगा इन समागमोंसे, जिन समागमोंमें इतनी रुचि रखते हैं, धुनि बनाते हैं कि भगवानका उपदेश हृदयमें प्रवेश नहीं करता।

स्वभावाश्रयकी शिक्षा— भाई! समस्त परपदार्थोंका आश्रय आत्माके अहितके लिए है—ऐसा जानकर परके आश्रयकी भावना हटे अपने आप जो सहज सत्त्वके कारण शुद्ध आत्मा है उस आत्माका आश्रय लें। अपने आपके स्वभावका आश्रय लेनेसे मोक्ष मार्ग मिलता है। दूसरे

का आश्रय तकना यह हमारे मार्गका रोधक है। सो यह शुद्ध ज्ञानघन जो अनन्त महिमारूप है उसमें अपने आपको रखना चाहिए, उसमें वृत्ति बांधना चाहिए। इस तरह इन १५ गाथाओंमें यह वर्णन किया गया है कि भाई तुम परके विकल्पको तजो। तुम्हारा यह विकल्प मिथ्या है। जैसी तुम्हारे विकल्पमें बात आयी वैसी बात परमें नहीं होती है, ऐसा जानकर परका विकल्प छोड़ो, अपने स्वभावका आश्रय करो।

स्वभावाश्रयका प्रताप— निज स्वभावके आश्रयसे ही अपना हित प्रकट होगा। हितरूप तो अब भी हम हैं। शिवस्वरूप तो अब भी हम हैं। स्वभाव कहां जायेगा? स्वरूप तो यहीका यही है। केवल स्वरूपकी ओर दृष्टि करना है और ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि करना है कि उसका अनुभवन हो जाय फिर ये समस्त बाह्य विषय नीरस लगने लगेंगे और इसके नीरस लगनेके कारण आत्मस्वरूपमें स्थिरता बढ़ेगी और इस आत्मस्वरूपकी स्थिरताके प्रतापसे समस्त संकट और बंधन दूर हो जायेंगे, इसलिए सर्व यत्न करके एक आत्मज्ञानका उद्यम करो।

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

अध्यवसानके त्यागका तात्पर्य पराश्रयताका त्याग— अध्यवसान जितने हैं वे सब प्रतिषेधके योग्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि परपदार्थों का आश्रय करना ही प्रतिषेधके योग्य है। अध्यवसान होते हैं रागद्वेष मोहसे। राग जितने होते हैं वे किसी परपदार्थका विचार करके होते हैं। तो यह बतलावो कि राग त्याज्य है या नहीं? त्याज्य है। राग होता है परका आश्रय करके तो परका आश्रय करना त्याज्य हुआ या नहीं? त्याज्य हुआ। इसलिये अध्यवसानका निषेध बताकर परके आश्रयका त्याग कराया गया है। चाहे यह कहो कि परके आश्रयका त्याग बताया, चाहे यह कहो कि परके आश्रयका त्याग बताया, चाहे यह कहो कि अध्यवसान का त्याग बताया और चाहे यह कहो कि व्यवहारनयका त्याग बताया मोक्षमार्गमें बढ़ने वाले पुरुषोंको जिन्हें कि निश्चयनयका पता है और जो अपने आत्माके स्वभावमें स्थित हो सकते हैं उनके लिए निश्चयनयका आलम्बन कहा है और उस निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिसिद्ध किया गया है। जो निश्चयनयका आश्रय करते हैं वे मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

निश्चयनयके आलम्बनकी स्थिति— निश्चयनय और व्यवहारनय में जिस समय जिस चीजका गीत गाया जाता है उस समय उसका ही

गाया जाता है। व्यवहारनयके भी इसमें कई प्रकरण हैं, वहां व्यवहारनय की बात कही है। यह गाथा निश्चयनयके प्रकरणकी है, ऐसी पूरी हिम्मत करके एक निश्चयका ही ख्याल रखकर इसे सुनना है। व्यवहारका विरोध करनेकी मंसा हो तो यह विषय फिट न बैठेगा। व्यवहारका विरोध करके निश्चयका आलम्बन करना योग्य नहीं है। पर व्यवहारनयका विरोध न करके निश्चयनयका आलम्बन करके मोहको दूर करके विकारोंसे परे होने का मार्ग आलम्बनके योग्य है।

आत्माश्रितता होनेमें अध्यवसानका त्याग— निश्चयनय आत्माश्रित है, जो स्वाधीन हो वह तो है निश्चयनयका विषय और जो किसी परके आलम्बन वाला हो तो उसे कहते हैं व्यवहारनयका विषय। तो निश्चयनयका विषय क्या हुआ? यहां जो अपने आपके आश्रय है। केवल अपने आपके आत्माका लक्ष्य करके जो भाव होता है वह तो है निश्चयनय और आत्माको छोड़कर परवस्तुका आश्रय करके, ख्याल करके जो भाव होता है वह है व्यवहारनय। तो जहां यह उपदेश किया गया है कि रागादिकभावोंको छोड़ो तो उसका मतलब यह हुआ कि परवस्तुका ध्यान छोड़े। परवस्तुका जहां ध्यान छूटा तो उसका अर्थ यह हुआ कि केवल अपने आपके आत्माका सहारा लिया।

आत्माका कर्तृत्व— यह आत्मा केवल ज्ञान ही कर सकता है। इसके वसका और कुछ मन, वचन, कायका व्यापार नहीं है। आत्मा इच्छा करता है। उस इच्छाके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंका योग होता है और आत्मप्रदेशोंके परिस्पन्दसे शरीरकी हवा चलती है और शरीरकी वायु के चलनेसे शरीरके अंग चलते हैं और उन अंगोंके चलनेके बाद बाह्य वस्तुओंके निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे कुछ परिणमन होता है, व्यवहारमें जिसे कहते हैं कि मैंने किया। मूलमें देखो तो मैंने केवल परिणाम किया। परिणामोंके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं कर सकता हूं। इस प्रकार अपने आपको यह देखना कि मैं परमार्थसे कर क्या सकता हूं? जो अमूर्त ज्ञानघन आत्म पदार्थ है, यह मैं कर क्या सकता हूं, इसका निर्णय करना यथार्थरूपसे है, सो वह निश्चयनयका विषय है।

प्रकरणकी दृष्टिका आदर— निश्चयनय आत्माश्रित होता है। निश्चयनयके द्वारा पराश्रित समस्त अध्यवसान छुटाये गये हैं, क्योंकि जितने पराश्रित भाव हैं वे बंधके कारण हैं। सो मुमुक्षुओंको अध्यवसान का, रागादिकका त्याग कराने वाले निश्चयनयने निश्चयसे व्यवहारनयका ही प्रतिषेध किया। यहां यह प्रकरण केवल निश्चयनयका है। इसलिए

केवल निश्चयकी ही दृष्टि बनाकर इसको सुनना चाहिए। व्यवहारका निषेध निश्चयनयके द्वारा होता है पर व्यवहारनय न हो यह बात नहीं है। जैसे मंदिरमें खड़े होकर विवाहके गीत कोई गाये तो फिट नहीं बैठता, इसी प्रकार निश्चयनयके विषयका जहां प्रतिपादन हो और व्यवहारनयकी बातको मनमें रखे तो फिट नहीं बैठता है। व्यवहारनयके प्रकरणमें व्यवहारनयको समझना और निश्चयनयके प्रकरणमें निश्चयनयको समझना।

राग त्यागके उपदेशका निष्कर्ष पराश्रयताका त्याग— जहां आचार्य संतोंका यह उपदेश है कि राग मत करो तो राग न करनेका अर्थ क्या निकला? राग होता है परपदार्थोंका आश्रय करके। किसी न किसी परपदार्थको अपने उपयोगमें रखे तो राग हो सकता है। राग मत करो— ऐसा कहनेका अर्थ यह हुआ कि किसी भी परपदार्थका आलम्बन मत करो और व्यवहारनयसे जितना होता है वह पराश्रित होता है। जब परका आश्रय छूटनेकी बात कहते हैं तो उस स्थितिमें यह बात आ गयी कि व्यवहारनय समस्त प्रतिषेध है क्योंकि व्यवहारनय समस्त प्रतिषेध्य है क्योंकि व्यवहारनय पराश्रित होता है। यहां आत्मस्थित होनेकी बात कही जा रही है।

आत्मोन्मुखताका संतोष— देखो जब हम मंदिरमें प्रभुकी भक्ति करते हैं तो व्यवहार ही तो वहां कर रहे हैं। पूजन पढ़ते हैं, बोलते हैं, करते हैं, करना चाहिए इस पदवीमें मगर अपने दिलसे बतावो कि पूजाके समयमें भगवानकी भक्ति करते-करते अपने आत्माकी भी दृष्टि कुछ न कुछ कर रहे हैं कि नहीं? कर रहे हैं। तो जो आत्माकी दृष्टि हुआ करती है वह तो हुआ निश्चयनयका विषय और जो भगवानके गुणोंका अनुराग बढ़ता है वह है व्यवहारनय का विषय। कहीं निश्चयका आलम्बन कम है और व्यवहारनयका अधिक है और कहीं व्यवहारनयका आलम्बन कम है और निश्चयनयका अधिक है। सो यह योग्यताके भेदसे भेद है।

पदानुसार आलम्ब— गृहस्थजनोंको व्यवहारका आलम्बन अधिक है निश्चयका आलम्बन कम है। पर ज्ञानीजनोंकी दृष्टि निश्चयकी ओर रहती है। जो साधुसंतजन हैं वे निष्परिग्रह, निष्कषाय पुरुष हैं, उनके निश्चयका आलम्बन अधिक होता है और व्यवहारनयका आलम्बन कम होता है। तो यह अपनी-अपनी पदवीके अनुसार है। पर तत्त्वकी निरख तो सबकी एक समान होती है। साधुजन जानते हैं कि केवल आत्मस्वभावके आश्रयसे ही मुक्ति होती है और गृहस्थजन भी जानते हैं कि केवल

आत्मस्वभावके आश्रयसे ही मुक्ति होती है। पर गृहस्थजनोंका वातावरण चूंकि घरमें रहनेका है, परिवारके बीचका है, नाना झंझटोंका है, धनोपार्जन करना होते हैं, भोजन आदिक आरम्भ होते हैं, तो गृहस्थावस्थामें उपयोग उलझनेके पचासों साधन हैं। गृहस्थावस्थामें ऐसा उपयोग डोलनेकी स्थितिके बीचमें बसने वाले गृहस्थ एकदम निश्चयनयका या शुद्धका आश्रय करते रहें, ऐसी बात उनके सुगमतया हो नहीं पाती, इस कारण व्यवहारनयका आलम्बन है।

तत्त्वदर्शकके व्यवहारकी साधकता— गृहस्थजनोंके स्वाध्याय, पूजन सत्संग, दयादान, परोपकार ये सब आलम्बन हैं, पर ज्ञानी जीव अन्तरमें यह समझता है कि जो निज है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है, इस शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका ध्यान ही परम ध्यान है और उस ध्यानसे निर्वाण है। जो आत्माश्रित भावोंमें रहता है वह ही मुक्त होता है। आत्माश्रित भाव है निश्चयनयका विषय। जो निश्चयनयका आश्रय करता है वह ही मुक्त होता है। व्यवहारनय पराश्रित भाव है। अभव्य जीव व्यवहारनयका एकांतसे अवलम्बन करता है क्योंकि उसे निर्विकार शुद्ध चैतन्यस्वरूपका परिचय नहीं हुआ है तो पराश्रित व्यवहारनयका एकांतरूपसे वे आलम्बन करते हैं सो वे अभव्यजन मुक्त नहीं हो पाते हैं।

पदानुसार नयोंकी प्रयोजकता— इसमें यह जानना है कि पहिली पदवीमें व्यवहारनयका आलम्बन प्रयोजनवान् है, उससे कुछ मतलब है पर ऊँचे दर्शन, ज्ञान, चारित्र स्वभावमें उपयोग जिसका टिक सकता है ऐसे ज्ञानीसंतको पुरुष व्यवहारनय प्रयोजनवान् नहीं रहता। जैसे जो सोना अभी मलिन है और उस मलिन सोनेका ही जिसको परिचय है उसके उपयोगमें यह सब सोना प्रयोजनवान् है और जिसका शुद्ध स्वर्णसे परिचय है उसके लिए अशुद्ध स्वर्ण प्रयोजनवान् नहीं है। तो जैसे-जैसे आत्माका विकास बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे व्यवहारनय छूटता जाता है। निश्चयनयका दृढ़ अभ्यास चलता है और फिर निश्चयनयभी छूट जाता है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनोंसे परे कार्य समयसारकी अवस्था है।

अनादिक्रम— इस जीवने अनादिसे लेकर अब तक पर परका आश्रय ही तो किया, पर्यायको निरखा, कुटुम्बको देखा, धन वैभव देखा, आहारकी गृद्धि रही, पेड़ भी हो गया तो जड़से तो मिट्टीको अंगीकार करने की गृद्धता वहां भी है। लट, केंचुवे, जोंक हो गए तो मिट्टी अथवा जो कुछ भी हो, खानेकी गृद्धता उनके भी लगी रहती हैं। देखो तो सब कीड़ों

मकौड़ोंका भी उपयोग पर-अपहरण के लिए चल रहा है। इस जीवने अब तक मात्र परकी दृष्टि कर करके अपने आपको विह्वल बनाया है। मैं भी कुछ हूं, स्वतंत्र सत् हूं, ज्ञाता द्रष्टा हूं – इस प्रकारका परिचय इस जीवको प्राप्त नहीं हुआ और अपने आपके एकत्व स्वभावके निश्चयमें न पहुंचने से कर्मबंध, जन्म मरण नाना क्लेशोंका समागम हो रहा है। सो स्वाश्रित-पने का अधिकसे अधिक यत्न होना चाहिए।

विविक्तताकी दृष्टिमें शान्ति— देखो भैया! अभी बाह्य पदार्थोंकी ओर दृष्टि हो तो आकुलता मच जाती है और जब विवेक जगा, और यह ज्ञानमें लिया कि मैं तो केवल अकेला ही हूं, मैं अपने स्वरूपचतुष्टयसे सत् हूं, अन्य द्रव्योंसे मेरा सम्बन्ध नहीं है, मेरा किसी अन्य पर अधिकार नहीं है, न मेरा कोई अधिकारी है—इस पद्धतिसे अपने आपको ओर अधिकाधिक यत्न होता है तब शांति मिलती है, शुद्धता प्राप्त होती है।

विभक्तताके निर्णयमें विह्वलताका अभाव— निश्चयनयकी पद्धतिसे शान्ति मिलती है, यह व्यवहारमें भी हम और आपको भान होता है। घर में कोई गुजर गया, बड़ा इष्ट पुरुष था, अब उसकी बड़ी विह्वलता मच रही है। उसकी विह्वलताको दूर करनेके लिए रिश्तेदार लोग उसे मना रहे हैं तो क्या उससे उसकी विह्वलता मिट सकती है? उसकी विह्वलता तब तक नहीं मिट सकती जब तक उस वियुक्त पुरुषसे विभक्त निज आत्म-तत्त्वका आभास न हो जाय। सब जुदे हैं, सब अलग हैं, अपने-अपने कर्मों के वश जीव संसारमें भ्रमण करते हैं। जन्ममरण तो लगा ही हुआ है। मेरा तो मात्र मैं ही हूं, मेरा अधिकार मुझपर ही है और मेरेमें अज्ञान हो तो मेरा अधिकार मुझ पर भी नहीं रहता है। मैं सबसे विविक्त केवल ज्ञानमात्र हूं, ऐसा निर्णय जब होता है तब उसके वियोगकी विह्वलता दूर होती है नहीं तो वह परका ही लक्ष्य बना बनाकर दुःखी रहा करता है। यह क्या है? निश्चयकी ही तो झलक है।

एकत्वनिश्चयमें शान्ति— इष्टवियोगके वातावरणके बीच जितना हम अपनेको अकेला तक सकें उतनी तो हमें शांति मिलती है और जितना यह भाव करते हैं कि कोई मेरा कुछ नहीं है, कोई मुझे सुख दुःख नहीं देता। तो कुछ भी बात परके बारेमें विकल्पमें आए वहां शांति नहीं मिलती है, वहां क्लेश बढ़ते हैं। तो जैसे हम अपनी भिन्नताकी ओर जायें वैसे ही हमें शांति मिलेगी और जितना परकी ओर लगेंगे उतनी ही अशांति मिलेगी। इसी प्रकार यदि हम परपदार्थोंका विकल्प करते रहे तो संसार है और परका आश्रय छोड़कर केवल निज स्वभावका आश्रय

करें तो मुक्तिके मार्गका गमन है।

निश्चयका प्रसाद आत्मदर्शन— जैसे हम बाह्य वस्तुओंको जानते हैं उनका स्वरूप निरखते हैं, ऐसा ही किसी प्रकारका कुछ क्या मेरा स्वरूप नहीं है ? जैसे बाहरी पदार्थोंके स्वरूपको देखनेको कमर कसे रहते हैं इसी तरह अपना भी कुछ स्वरूप है उस स्वरूपको जाननेका यत्न करो। यही तो निश्चयका आश्रय है। अपने स्वरूपका दर्शन करना सो निश्चयनय है और परका आश्रय करके रागभाव बनाना सो व्यवहार है।

मध्यस्थितिकी उपादेयताकी आपेक्षिकता— जैसे किसीको १०४ डिग्री बुखार है और रह जाय १०१ डिग्री तो वह कहता है अब हम अच्छे हैं, हमारी तबियत अब ठीक है। पर परमार्थसे उसके अभी तीन डिग्री बुखार है, और जो कुछ भी परिणमन है वह अब भी चल रहा है, लेकिन बड़े बुखारकी स्थिति न रहनेसे १०१ डिग्रीमें वह अपनेको स्वस्थ शांत समझता है। इसी प्रकार पूर्णस्वस्थ अवस्था तो अत्यन्त विविक्त अवस्था है। शुद्ध केवल ज्ञाता द्रष्टा भाव कर्म कलंकोंसे रहित आत्माका चित् परिणमन वह ही एक उत्कृष्ट स्वस्थ निरोग अवस्था है, पर वह अवस्था तो अनादिसे है नहीं और रोग अस्वस्थ आदि किन्हीं भी रूपोंमें पराश्रितताकी वेदना अनादिकालसे लग रही है तो ऐसी स्थितिमें शुभ व्यवहारनयके प्रवर्तनसे अशुभोपयोगकी बड़ी वेदनाएँ दूर होती हैं और शांति मिलती है।

कल्याणार्थीका लक्ष्य शुद्धोपयोग— अच्छा बतावो भगवानकी भक्ति करते हुए कुछ शांति मिलती है या नहीं मिलती है ? मिलती है, पर पूर्णस्वस्थ जो अवस्था है आत्माके शुद्ध ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति वह नहीं है पर अशुभोपयोगकी वेदना न रहनेके कारण शुभोपयोगकी स्थितिको उपादेय कहा है। पर वस्तुतः शुभोपयोगमें भी पूर्ण स्वच्छ निर्विकार दशा नहीं है। इस कारण उससे भी और परे रहकर अपने आत्माकी ओर आनेका उपदेश है। इस प्रकार यह जीव निश्चयनयका आश्रय करके निर्वाणको प्राप्त करता है। जब आत्मध्यान होता है, केवल ज्ञानस्वरूप ही उपयोगमें दृढ़ होता है तब उसे शांति प्राप्त होती है।

बन्ध और मोक्षकी मूल कुञ्जी— भैया ! गत गाथाओंमें यह प्रकरण चल रहा था कि मैं जिलाता हूं, मारता हूं, दुःखी, सुखी करता हूं, ऐसा जो लगाव है, राग है, अध्यवसान है वे सबके सब बंधके कारण हैं। और मोक्षका कारण तो अपने ज्ञायक स्वरूपको, अपने स्वभावको जैसा कि वह अपने आपकी सत्ताके कारण है उस रूपमें निरखना और 'मैं यह हूं' ऐसा दर्शन करनेके कारण जो परका आश्रय टूटता है और आत्माका आश्रय

होता है यह है मोक्षका कारण। ऐसा जानकर हे मुनिजनों! निश्चयनयमें लीन होकर निर्वाणको प्राप्त करो। शुद्ध आत्मद्रव्यका दर्शन करना सो निश्चयका आलम्बन है और अपने आपके सत्से अर्थात् किन्हीं पर सत्का आश्रय करके भाव बनाना सो व्यवहारनय है।

निश्चयनयके आश्रयकी प्रेरणा— अथवा व्यवहारोंमें इतना अन्तर है कि जिस आश्रयसे अशुभोपयोग बनता है वह व्यवहार तो सर्वथा त्याज्य है और देव, शास्त्र, गुरुका श्रद्धान करके जो शुभोपयोग बनता है वह अशुभोपयोगके त्यागके कारण तो उपादेय है किन्तु इससे और आगे भी हम बढ़ते हैं उस दृष्टिकी अपेक्षा यह व्यवहार भी त्याज्य है। यों इस प्रकरणमें निश्चयनयके आश्रयकी आचार्यदेवने प्रेरणा की है और व्यवहार नयको यद्यपि सविकल्प अवस्थामें प्रयोजनवश बताया है, उपदेश किया है, तो भी विशुद्ध ज्ञानदर्शनकी स्थितिके लिए उसका भी अनाश्रय कहा है।

इस प्रकरण को सुनकर फिर शंका होती है कि अभव्यजन किस तरह व्यवहारनयका आश्रय करते हैं जिससे कि उनका निर्वाण नहीं होता? इसके उत्तरमें अब अगली गाथा कहेंगे।

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

अभव्यमें भी केवलज्ञान शक्तिका सद्भाव— अभव्य जीव व्यवहार चारित्रका पालन करता तो है परन्तु उसे सत्य, दर्शन और ज्ञान नहीं है इसीलिए वह मिथ्यादृष्टि रहता है। अभव्य जीव उसे कहते हैं कि जिसके मोक्ष जानेकी शक्तिकी व्यक्ति कभी हो नहीं सकती। जितने भी जीव हैं उन सबमें केवलज्ञानकी शक्ति है। अभव्य है उसमें भी केवलज्ञानकी शक्ति है। यदि केवलज्ञानकी शक्ति न हो तो उनके केवल ज्ञानावरण क्यों होना चाहिये? नहीं होना चाहिए न।

अभव्यमें भी केवलज्ञानशक्तिका सद्भाव— अभव्य जीव व्यवहार चारित्रका पालन करता तो है परन्तु उसे सत्य दर्शन और ज्ञान नहीं है इसीलिए वह मिथ्यादृष्टि रहता है। अभव्य जीव उसे कहते हैं कि जिसके मोक्ष जानेकी शक्तिकी व्यक्ति कभी हो नहीं सकती। जितने भी जीव हैं उन सबमें केवलज्ञानकी शक्ति है, अभव्य है उसमें भी केवलज्ञानकी शक्ति है। यदि केवलज्ञान की शक्ति न हो तो उनके केवल ज्ञानावरण क्यों होना चाहिए? नहीं होना चाहिए न। केवल ज्ञानावरण उसे कहते हैं जो केवलज्ञानके न होनेमें निमित्त बने। केवलज्ञानकी तो शक्ति नहीं है फिर उसके रोकने वाला, आवरण करने वाला केवल ज्ञानावरण माननेकी क्या

जरूरत है ? अभव्य जीवोंमें सम्यग्दर्शनकी शक्ति नहीं है तो मनःपर्यय-ज्ञानावरण अवधिज्ञानावरण या कह लो कि अवधिज्ञान कुमति रूप भी हो तो मनःपर्यय ज्ञानावरण कैसे माना जा सकेगा और दर्शन मोहनीयके कर्मकी क्या आवश्यकता है इत्यादि। जैसे पुद्गल हैं, इनके कभी सम्यग्दर्शन नहीं होता। तो इस पर तो कर्म नहीं लदा है।

अभव्यके आत्माका स्वरूप— अभव्य जीवोंके शुभप्रकृति को छोड़कर जो अत्यन्त शुभ है आहारक शरीर आहारक अङ्गोपाङ्ग और तीर्थंकर प्रकृति इनको छोड़कर व सम्यक् प्रकृति, सम्यक् मिथ्यात्व इनको छोड़कर बाकी सभी कर्मप्रकृतियां तो लगी हुई हैं। सो इससे भी क्या सिद्ध होता है ? तो अभव्य जीवोंमें भी वैसा ही स्वरूप है जैसा भव्य जीवका और सिद्ध प्रभुका है। पर अभव्य जीवके शुद्ध परिणमन होनेकी शक्तिके व्यक्त होनेकी शक्ति नहीं है। जैसे जितनी भी स्त्रियां हैं सबमें पुत्र पैदा करनेकी शक्ति है और जिसे बांझ कहते हैं उसमें भी पुत्र पैदा करने की शक्ति है अन्यथा वह स्त्री नहीं कहला सकती। पर पुत्रोत्पत्तिकी शक्तिके व्यक्त होने की उसके अन्दर योग्यता नहीं है। तो यों अभव्य जीव शील पाले, तप करे, व्रत पाले, समिति पाले, गुप्ति धारण करे फिर भी वह अज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि है। उसका चारित्र, व्यवहारचारित्र, अत्यन्त व्यवहार रूप चारित्र सम्यक्त्वको न छूता हुआ उसका आचरण है। उसको अपने स्वरूपका अनुभवात्मक परिचय नहीं है।

आत्मानुभवका सामर्थ्य— भैया ! आत्माके अनुभवनकी बड़ी महिमा है। इसके प्रसादसे तुषमाषभिन्नवत् ज्ञाता भी मुक्त हो जाते हैं और इसके अभावमें आगमधर भी मुक्त नहीं हो सकते। ११ अंग ९ पूर्वका धारी अभव्यजीव हो सकता है और ९ पूर्वोंका धारी जो होगा उसका ज्ञानप्रवाह पूर्ण अभ्यस्त हो जाता है। आत्माके सम्बन्धमें, ज्ञानके सम्बन्ध में जितना कुछ साहित्य है, ज्ञान है, विज्ञान है वह सब पूराका पूरा ज्ञात है तथा कल्याणबुद्धिसे चारित्रका पालन रहता है। दुनियामें अपनी इज्जत बताने के लिए या अपनी पूज्यता मान्यता करानेके लिए वह चारित्र पालता हो, ऐसा नहीं है। चारित्रका वह कल्याण बुद्धिसे करना चाहता है। इतने पर भी अभव्य जीवोंके सम्यक्त्व सहित ज्ञान न होनेके कारण वह अज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि है।

अभव्यत्व भाव— भैया ! जो जैसा है उसको वैसा भगवंतने बताया है। किसी ने अपनी ओरसे इन जीवोंको छांट रखा हो या किसीने प्रेम कर रखा हो उसे भव्य कहा हो, ऐसा नहीं है किन्तु जो कभी मोक्ष न जा

सकेगा और जिसके सम्यक्त्व प्रकट करनेकी योग्यता ही न हो सकेगी ऐसी पर्याय वाले जीवोंको अभव्य कहा है और ऐसा होता है, निमित्त भी बहुत जुटते हैं अभव्यजीवोंको। इससे बढ़कर और क्या निमित्त होगा कि--११ अंग ९ पूर्वोंका जिनसूत्र पूर्ण विदित बाह्य होता है। सम्यक्त्वका कारण नियमसारमें जिनसूत्र बताया है। वह ११ अंग ९ पूर्व तक अधिकार पूर्ण ज्ञान रहता है। ११ अंग ९ पूर्वोंका ज्ञान कम ज्ञान नहीं होता है, पर अभव्यको स्वरूपका परिचय नहीं हो पाता। कहां उलझा है? कैसी उलझन है कि कल्याण बुद्धि भी है, मित्र और शत्रुमें समान बुद्धि भी है। कोई चाहे गाली दे तो उसमें भी क्षोभ नहीं लाता। प्रशंसा और निन्दा उसको समान हैं, धन और कांच बराबर हैं, फिर भी अपने परिणमनमें ऐसी कर्तृत्व बुद्धि अटकी है कि वह अनुभव नहीं कर सकता।

अभव्यकी पर्यायबुद्धता— शील, तप, गुप्ति, समिति, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य परिग्रह त्याग आदि सभी व्रतोंको अभव्य जीव धारण करता है। इतने पर भी निश्चयचारित्रके कारणभूत जो ज्ञान और श्रद्धान है वह इसके नहीं है। इसी कारण यह जीव अज्ञानी और मिथ्यादृष्टि है। देखो आत्माकी नैसर्गिक महिमा कि गाय, बैल, घोड़ा, पक्षी कहीं बैठा हो, मुँह चलाता हुआ भी हो, कहो सम्यक्त्वकी झलक पा जाय और अभव्य जीव दुर्धर तपस्या करता हुआ भी, तपका निर्बाध पालन करता हुआ भी सम्यक्त्व को नहीं पाता। सरलता बनानेसे नहीं होगी, स्वाधीनता तैयारी से याने बनावटसे क्या होगी? पुरुषार्थ सब करते हैं पर जिसको निसर्गतः होना है सो होता है।

पर्यायकी अटक— इस प्रकरणमें इस बातको बतानेका प्रयोजन यह है कि अभव्य जीव परका आश्रय नहीं छोड़ते अर्थात् व्यवहारनयके एकांतकी पकड़ रखते हैं, उन अध्यवसानोंका प्रतिकार नहीं करते हैं। इस कारण यह जीव अज्ञानी है, मोक्षका पात्र नहीं होता। इस अभव्य जीवके जो इतनी बड़ी समता प्रकट हुई है कि कोल्हूमें पिल जाने पर भी शत्रु पर द्वेष नहीं करता ऐसी अन्तरमें कल्याणबुद्धि जगी है। फिर भी इस जीवके ऐसी पर्यायकी अटक है पर तत्त्वका आश्रय करने की प्रकृति है कि यह जीव निश्चय-चारित्रसे शून्य रहता है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि रहता है। कितनी कषाय मंद है कि शत्रुको शत्रु नहीं मानता, अन्तरमें क्रोधका प्रसंग नहीं होता और मिथ्यात्व भी मंद है, वह देव, शास्त्र, गुरुकी उपासनामें रहता है अभव्यमिथ्यादृष्टि जीव भी, परंतु देव शास्त्र गुरुमें मर्म क्या है? ऐसा मर्मभूत सहजस्वरूपका परिचय नहीं हो पाता।

भावपरिणमनमें अटक— अभव्यमुनि भी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुकी सेवा नहीं करते, २८ मूल गुणोंमें भी अतिचार नहीं करते, भले ही वे सम्यक्त्व सहित नहीं हैं पर प्रवृत्तिमें जो कुछ करना चाहिए वे सब करते हैं। ज्ञान उनका ११ अंग ९ पूर्व तकका हो जाता है। समतापरिणाम भी उसके महान् होता है, फिर भी उन सूक्ष्म परिणमनोंमें अटक जाने रूप झीने पर्दे को तोड़कर कुछ अन्तरमें प्रवेश नहीं कर पाता। उसका और विश्लेषण किया नहीं जा सकता, पर यह कैसे हो गया कि उसे अपने किसी सूक्ष्म परिणमनमें अटक है। जो केवल निश्चयका एकांत कर रहे हैं या जो केवल व्यवहारका एकांत कर रहे हैं वे अभव्य हों, ऐसा नहीं है। भव्य भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। यहां यह बतला रहे हैं कि अपने सहज-स्वरूपका परिचय न हो सकनेके कारण अभव्य जीव ईमानदारी सहित कल्याण बुद्धिसे ऐसे चारित्रको अंगीकार करते हैं तिस पर भी पर्यायकी अटक न छूट सकनेसे वह मोक्षका पात्र नहीं होता।

भव्यजीवोंकी बहुलता— अभव्य जीव जगत्में बहुत कम हैं। हैं तो अनन्त, पर भव्य जीवोंके अनन्तवे भाग प्रमाण हैं और यों समझिये कि क्या लाखों जीवोंमें एक जीव अभव्य होगा? इतनी भी संख्या नहीं बैठती। तो क्या करोड़में एक अभव्य होगा? इतना भी अनुपात नहीं बैठता। तो क्या शंख महाशंखमें एक अभव्य होगा? इतना भी अनुपात नहीं बैठता। अनन्त जीवोंमें एक अभव्य होगा। अभव्य जीव भव्य जीवके अनन्तभाग प्रमाण हैं। भव्य भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। वर्तमानमें इसके मिथ्यादृष्टित्व है। जिसको वस्तुस्वरूपका यथार्थ परिचय नहीं है, चाहे वह किसी एकांतके आशयका हो मिथ्यादृष्टि है। वस्तु अनेकांतात्मक है। आत्मदर्शनकी स्थितियोंमें यह जीव पहिले अनेकांतका निर्णय करता है और उसके चारित्रका यह यत्न होता है कि वह व्यवहारनयका आलम्बन कम करे और निश्चयनयका आलम्बन अधिक करे। यह स्थिति उसकी बढ़ती रहती है।

पदवीके अनुसार नयावलम्बन— भैया! जिस पदवीमें व्यवहारनय का आलम्बन प्रयोजनवान् है वहां व्यवहारका आलम्बन अधिक है, निश्चयका आलम्बन कम है, पर जैसे-जैसे उसका विकास होता है वैसे-वैसे अंतरङ्ग और बाह्य परिस्थिति निर्मल होती जाती है, व्यवहारका आलम्बन कम होता है, निश्चयका आलम्बन अधिक होता है और कोई ऐसी स्थिति अंतमें होती है कि पदार्थोंके नाते तो निश्चय व्यवहारात्मकता रहती है सो तो सत्य ही है, पर उपयोगके नाते व्यवहारनयका आलम्बन छूट जाता

हैं और निश्चयनयका आलम्बन रहता है। फिर कुछ समय बाद उपयोगके नाते निश्चयका आलम्बन छूट जाता है और सर्व विकल्पोंसे परे होकर वह अपने आपमें एक शुद्धपरिणमन से ही अपने आपसे परिणमता रहता।

शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका आलम्बन— गृहस्थजनोंकी परिस्थितिमें व्यवहारनयका आलम्बन प्रयोजनवान अधिक है। पर निश्चयका परिचय ही नहीं करें और वस्तुका सहज स्वरूप क्या है ? इसका ज्ञान ही नहीं करना चाहें तो यह उनकी एक त्रुटि है। तो देखिए जिसके अशुभोपयोगकी स्थितियां अधिक हैं ऐसे जीवोंको अशुभोपयोग काटनेके लिए शुभोपयोगका आलम्बन बताया है। पर मोक्षके अर्थी पुरुषोंको शुभोपयोग में रहकर भी शुद्धोपयोगकी जानकारी रहना आवश्यक बताया है। इस प्रकरणमें यह कहा जा रहा है कि सभी कहते हैं कि रागद्वेष छोड़ो। रागद्वेष होता है परका आश्रय करके। तो उसका अर्थ यह हुआ कि परका आश्रय छोड़ो और जहां परका आश्रय छूटता है वहां रहता है आत्माका आश्रय। तो इसका अर्थ यह है कि अपने स्वरूपका आश्रय करो। काम तो यह एक ही है। अब जैसी-जैसी पदवीमें, जैसी-जैसी परिस्थितिमें जैसा जो कुछ करते बने सो करो, पर दृष्टि रखो अपने शुद्ध आत्माकी।

अभव्य जीव शील, तप, व्रत, समिति गुप्तियोंका पालन करता हुआ भी अज्ञानी बताया गया है। ऐसी बात सुनकर एक जिज्ञासु प्रश्न करता है कि चलो तपस्या करते हुए भी अज्ञानी है वह, तो रहो, किन्तु किसी-किसी अभव्य जीवके तो ११ अंगोंका ज्ञान पाया जाता है, फिर उसे अज्ञानी क्यों कहा ? इसके उत्तरमें कहते हैं—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

ज्ञानपाठी अभव्यके भी अज्ञानीपना— जो मोक्षकी श्रद्धा नहीं करते हैं ऐसे अभव्य जीव जो कुछ भी अध्ययन करते हैं वह पाठ मात्र का अध्ययन है। किन्तु आत्मगुणकी श्रद्धा न करते हुए जो भी अभव्यका अध्ययन है वह लाभ नहीं देता। अपने आपके आत्माका गुण है ज्ञान। ज्ञानका स्वरूप क्या है ? उसे इस ज्ञानके स्वरूपका परिचय नहीं होता। यह ज्ञानस्वरूप एक प्रतिभास मात्र है। सर्व पदार्थ इसमें झलक जाते हैं। प्रत्येक पदार्थके जाननके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प उसमें नहीं पाया जाता है। ज्ञानका ऐसा उत्कृष्ट निर्लेप प्रतिभासमात्र स्वरूप है और वही मैं हूं, इस प्रकारका स्व लक्ष्यमें नहीं रहता है और जो कुछ भी उसकी

चतुराई है, जानकारी है उसमें यह जानता रहता है कि मैं जानता हूं। मैं उत्तम पालन करता हूं, इस प्रकारकी दृष्टि रहती है। इस कारण यह अभव्य जीव अधिक ज्ञान करके भी अज्ञानी है।

ज्ञानीकी मौलिक निर्मोहता— भैया! ज्ञानी जीवको इस ज्ञानसे भी मोह नहीं होता। ज्ञानी होता हुआ भी ज्ञान परिणमनमें वह लगाव नहीं रखता, तो भले ही अभव्य जीव शास्त्रोंका पाठ पढ़ता है, पर मोक्षतत्त्व की श्रद्धा न करते हुए अथवा ज्ञानका श्रद्धान न करने वाले इस अभव्य जीवका वह शास्त्रका पढ़ना लाभदायक नहीं होता। उसके द्वादशांगका अध्ययन द्वादशांग तो पूरा नहीं है, ११ अंग और ६ पूर्वोंका उसके यह अध्ययन ख्याति, पूजा, लाभके निमित्त है, अथवा न भी हो ख्याति पूजा लाभका उद्देश्य, फिर भी अपने आपका जो परिणमन है उस परिणमनमें आत्मस्वरूपका लगाव है कि यह मैं हूं। आत्मा सदा किसी एक परिणमन-रूप नहीं है तो न सही पर सदा कालके लिए किसी परिणमनरूप रहता है। परिणमन उसका वस्तुतः है पर परिणमन मात्र तो द्रव्य नहीं है। पर यह अभव्य जीव अपना जो कुछ भी परिणमन है उसे उस परिणमनरूप अपने आपकी प्रतीति है। इस कारण वह जीव अज्ञानी रहता है।

अभव्यका उपदेश मार्मिक किन्तु तोता रटंत— क्या आगमधर अभव्य जीव उपदेश देते समय यह बात नहीं बताता होगा कि परिणमन में आत्मबुद्धि न रखना—कहता होगा। प्रभाव और जोरके साथ बताता होगा पर उस अभव्यजीवके स्वयं अपने परिणमनमें आत्मप्रतीति नहीं मिटती। जैसे कोई तोता हो—सुवा बत्तीसीमें बताया है कि वह पढ़ने लगा कि नलनी पर मत बैठना। बैठना तो दाने चुगनेका यत्न न करना। दाने चुगना भी तो उलट न जाना और उलट जाना तो उसे छोड़कर भाग जाना। इतना उसने सीखा तो केवल सीखा भर है वह मौका पाकर पिंजड़ेसे उड़ जाता है और जाकर उस नलनी पर बैठ जाता है। नलनी पर बैठा हुआ तोता पढ़ता जाता है और दाने चुगता जाता है। लटक गया और लटक कर भी यह पढ़ता जाता है कि लटक भी जाना तो उसे छोड़कर भाग जाना। पर उस तोतेके भागनेकी प्रतीति नहीं है। सो वह उसीमें लटका रहता है। तो इसी प्रकार अभव्यका भी वह सब ज्ञान तोतारटंत है।

अभव्यके आत्माके साक्षात्कारका अभाव— अभव्य जीव अधिक ज्ञान भी कर लेते हैं और आत्माके स्वरूपका बड़ा सूक्ष्म वर्णन भी करते हैं, यह सब विविक्त है। इसके सम्बन्धमें जो विचार बने, जो परिणमन बनें, उन परिणमनोंसे भी विविक्त है, सो ऐसे शुद्ध आत्माकी चर्चा भी

की जाती है, पर स्वयंका लक्ष्य परिणमनसे विविक्त स्वभावकी ज्ञप्तिरूप चर्चाका नहीं है, परभावोंसे विविक्त शुद्ध ज्ञान प्रतिभास मात्र अपनेको लक्ष्यमें नहीं लेता है। इस कारण ज्ञानकी श्रद्धा न होनेसे, कैवल्यस्वरूपकी प्रतीति न होनेसे इस जीवके ११ अंगोंके अध्ययनसे भी लाभ नहीं है। अभव्य जीव प्रथम तो मोक्षकी श्रद्धा ही नहीं करते हैं, लेकिन लगे हैं व्रत और तपमें इससे कोई बड़ा अद्‌भुत सुख होता है। मोक्ष मिलता है, मात्र इतनी बात सुनकर ज्ञानमें लग गए, तपमें लग गए, पर मोक्षस्वरूप क्या है, किस विविक्त कैवल्य अवस्थाका नाम मोक्ष है? इसकी श्रद्धा नहीं है क्योंकि उन्हें शुद्ध ज्ञानमय आत्माका ज्ञान नहीं है। अपने आत्माके स्वभाव की प्रतीति नहीं है।

साक्षात् अनुभवकी प्रतीतिका एक दृष्टान्त-- जैसे बाहुबलीस्वामी की जो श्रवण बेलगोलमें मूर्ति है, दसों भाइयोंसे सुन लिया और ज्ञान भी कर लिया कि पैर इतने फिट लम्बे हैं, हाथ इतने फिट लम्बे हैं, मूर्ति इतने फिट लम्बी है, उसके आकार प्रकारका भी ज्ञान कर लिया। तो वह वर्णन इतना कर सकता है जितना कि मूर्तिके देखने वाले नहीं कर सकते हैं। जो दर्शन कर आए हैं उनसे ही पूछ लो कि भाई बतलावो उनके हाथ की छोटी अंगुली कितने फिट लम्बी है? तो यह बात वे नहीं बता सकते दर्शन कर चुकने वाले और एक यहां का रहने वाला, जिसने साहित्यमें लिखा हुआ देख लिया है, पढ़ लिया है, वह बता सकता है कि उनके हाथ इतने लम्बे हैं, पैर इतने लम्बे हैं। भले ही वह पुरुष बता दे साहित्यकी जानकारीसे या लोगोंकी बातें सुननेसे, पर वही पुरुष बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिके साक्षात् दर्शन कर ले श्रवण बेलगोलमें जाकर, तो जो प्रतीति उसको दर्शनमें होगी वह प्रतीति उसके उस ज्ञानमें नहीं है। इसी तरहसे अभव्य जीवके ज्ञान बहुत है, ११ अंगका ज्ञान है, कम ज्ञान नहीं है, लेकिन उसे आत्मदर्शन न होनेसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

अभव्यके श्रुतके अध्ययनके लाभका अलाभ— जैसा अभव्यज्ञानी जानता है, जैसा वह बताता है तैसा उसको स्वयंका साक्षात्कार नहीं होता, अनुभवन नहीं होता। ऐसी बात अभव्य भी बोलता है पर उसका अनुभव नहीं होता तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे यह अभव्य जीव ज्ञानकी भी श्रद्धा नहीं करता, उसके ज्ञानस्वभावकी श्रद्धा नहीं है तो आचाराङ्गादि ११ अंगरूप श्रुतका अध्ययन करके भी श्रुतका अध्ययन करनेके गुणका अभाव होनेसे वह पुरुष ज्ञानी नहीं होता। श्रुतके अध्ययनसे लाभ क्या था कि सर्व परभावोंसे, परपदार्थोंसे विविक्त ज्ञान-

प्रकाशमात्र अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान कर लेना यह था श्रुतके अध्ययनका लाभ किन्तु यह लाभ तो दूर हो, वह विविक्त आत्मवस्तुके भेदज्ञानकी श्रद्धा भी नहीं करता, तो श्रुतके अध्ययनसे उसने लाभ क्या निकाला? भले ही इतना विशाल ज्ञान पाया है, पर अपने आपमें वह अनुभव नहीं जगा, शांति और संतोष नहीं हुआ तो ज्ञान और श्रद्धानके भावसे वह जीव अज्ञानी ही है—ऐसा निश्चित होता है।

आत्मानुभवकी कल्याणस्वरूपता— भैया! वह पुरुष धन्य है, पूज्य है जिसको शुद्ध भावोंसे अपने आपके सहज स्वभावका अनुभव हुआ है। आत्मानुभवी पुरुष इस जगत्‌के विजेता होते हैं। शास्त्रोंका अध्ययन है उसे पर शास्त्रोंके अध्ययनसे लाभ तब है जब शुद्ध आत्माका परिज्ञान हो जाय। वह श्रुतके नहीं होता है। यह शुद्ध आत्माकी उपलब्धि तो निर्विकल्प परमसमाधिके द्वारा होती है। शुद्ध आत्माका सम्यक्‌श्रद्धान करना, ज्ञान करना और ऐसे ही अपने आपमें ज्ञानद्वारा अनुभवन करना, ऐसी स्थिति जब तक नहीं प्राप्त होती है तब तक शुद्ध आत्माका स्वरूप प्राप्त नहीं होता। अपने कल्याणमें कारण श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण है। तीनोंमें एक साथ बल चलता है तब कल्याण होता है।

भैया! केवल वार्ता करनेसे कल्याण नहीं है, किन्तु जिस परमात्मतत्त्वके सम्बन्धमें हम ज्ञान करते हैं, श्रद्धान करते हैं उस ही रूप हम अपनेमें अन्तरसे आचरण करने लगें तो इस सम्यक्त्व ज्ञान आचरणकी जो एकता है वही मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है। केवल श्रद्धानसे काम नहीं चलता, मात्र आचरणसे भी काम नहीं चलता।

दृष्टान्तपूर्वक श्रद्धान, ज्ञान व आचरणके त्रितयकी उपयोगिता— जैसे कोई रोगी वैद्यपर श्रद्धान न करे तो प्रथम तो वह दवा खायेगा ही नहीं। यदि संदेह करके खायेगा तो न जाने कैसा अलौकिक सम्बन्ध है इस आत्माके परिणामोंका और शरीरके स्वास्थ्यका कि वहां उसको लाभ नहीं होता है और श्रद्धान भी हो जाय कि यह वैद्यराज अच्छे हैं और ज्ञान भी हो जाय कि यह दवा इस प्रकार की जायेगी, पर न पिये तो कैसे लाभ होगा और श्रद्धान भी करे कि ये वैद्य जी अच्छे हैं, इनकी दवासे लाभ होगा पर उसका ज्ञान नहीं है कि किस समय खानी चाहिए, कितनी मात्रामें कौनसी चीज मिलानी चाहिए, तो उससे लाभ नहीं होता है। पर किसीके साथ लगा हुआ है विपरीतरूप और किसीके साथ लगा हुआ है यथार्थरूप और कोई जीव ऐसा नहीं है जो श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे विपरीत हो। इसी प्रकार जिसको मोक्षकी श्रद्धा नहीं है, ज्ञानस्वरूप आत्माकी श्रद्धा

नहीं है उस जीवको एकादशांगका ज्ञान हो जाने पर भी मोक्ष नहीं होता है, बंधनमें रहता है।

नयोंका प्रयोजन— अभव्यका कल्याणपरिणाम न होनेमें निमित्त क्या है? दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय इनका उपशमक्षय और क्षयोपसमरूप निमित्त नहीं प्राप्त हुआ। देखिए—परिपूर्ण ज्ञान वह है कि जहां यह भी विदित होता रहे कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, अपने ही परिणमनसे परिणमता है, अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भावका परमें अत्यन्ताभाव है, यह भी विदित हो। यह भी विदित हो कि योग्य अर्थात् अयोग्य, अशुद्ध उपादान पर-उपाधिका निमित्त पाकर अपने विकाररूप परिणम रहे हैं। कोईसा भी विकार किसी पर-उपाधिका निमित्त पाये बिना नहीं होता। इन दोनों दृष्टियोंमें आत्मस्वभावके परिज्ञानकी बात कही गयी है।

ज्ञानीके नयोंके प्रयोजनकी एकता— भैया! वहां दो प्रयोजन नहीं हैं। जो जीव ऐसी श्रद्धा करता है कि प्रत्येक पदार्थ अपना स्वरूप रख रहे हैं और अपने परिणमन स्वभावसे परिणमते हैं उसका भी प्रयोजन आत्मस्वभावकी दृष्टि करना है और जो जन निमित्तमुखसे वर्णन करते हैं कि जितने भी विकार कर्म हैं वे पर-उपाधिका निमित्त पाकर होते हैं, इसमें भी वही मर्म पड़ा हुआ है। प्रयोजनमें विकार जितने हैं वे उपाधिका निमित्त पाकर होते हैं। अतः वे आत्मस्वभाव नहीं हैं। आत्माका स्वभाव तो केवल एक चैतन्यस्वरूप है। उस व्यवहारके वर्णनमें भी स्वभावकी उपाधिका यत्न है, जिसका प्रयोजन एक हो जाता है वह पुरुष किसी परिज्ञान और यत्नमें थोड़ी भिन्नता भी रखता हो तो भी वह चूँकि मूल प्रयोजन एक होनेसे उन जीवोंमें वात्सल्य और मैत्री रखता है। प्रयोजन एक हुआ। वहां परस्परमें विवाद नहीं होता।

प्रयोजनकी एकतामें कलहके अभावका दृष्टान्त— घरमें लोग रहते हैं परिवारजन, ५—७ आदमी, उन सबका प्रयोजन एक है, घर बसे, घर रहे, कुल चले और आरामसे जीवन चले। सबका एक उद्देश्य है, इस उद्देश्यका विरोधी उन घर वालोंमें से कोई नहीं है। तो देखो घरमें छोटी छोटी बातों पर थोड़ी लड़ाई भी हो जाय, कलह भी हो जाय, फिर भी घर में बसते और मूल प्रयोजनमें कोई बाधा नहीं डालते। तो इसी तरह एक धर्मगृहमें जितने भी साधर्मीजन हैं ये सब परिवार हैं। आपके ईंट वाले मकानमें ५—६ परिवारके लोग होंगे, पर इस धर्ममहलमें बसने वाले हजारों लाखों पुरुष, स्त्री, बालक, बालिकाएँ जितने भी हैं साधर्मीजन वे सब एक परिवारमें सामिल हैं। इन साधर्मी परिवार सदस्योंका सबका

एक प्रयोजन होता है कि मुझे आत्मस्वभावका परिचय करना है। अपने सहजस्वरूपकी प्राप्ति करनी है।

आलम्बनभेद होने पर भी प्रयोजनकी एकतामें यथार्थता— उनके आलम्बनमें भिन्नता होती रहे, यह तो अपनी-अपनी पदवीकी बात है। किसीके व्यवहारनयका आलम्बन अधिक है, निश्चयनयका आलम्बन कम है किन्तु उससे पूछो कि तुम्हारे अंतरंगकी भावना क्या है ? तुम क्या चाहते हो ? और उसका उत्तर यदि यह मिले कि मुझे कैवल्य स्वरूप चाहिए, तो वह ठीक चल रहा है। किसीके व्यवहारनयका आलम्बन कम है, निश्चयनयका आलम्बन अधिक है और उसका भी प्रयोजन आत्मस्वभावकी प्राप्ति है, कैवल्यकी उपलब्धि है तो वह भी सही है। जिसके मूल प्रयोजनमें बाधा हो उसके निश्चयनयका पालन भी अयथार्थ है और व्यवहारनयका पालन भी अयथार्थ है। प्रयोजन एक होने पर फिर यह व्यवहारनय और निश्चयनय ये दोनों कार्यकारी होते हैं।

अभव्यकी हीनता— अभव्य जीवको ऐसी कौनसी कमी हो गयी कि ११ अंग और ९ पूर्वका ज्ञान भी हो गया, इतने पर भी वह मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता। उसे ज्ञानमय आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नहीं होती है। हम आप सब भी जितने समय मंदिरमें भगवानके दर्शन करते हैं, मूर्तिके समक्ष ध्यान करते हैं उतने समय तक अपने परिणामोंमें भगवान के अनन्त चतुष्टयकी महिमाको जाननेकी परिणति होती है और आपने मानों १० मिनट तक भक्ति की तो उसके बीचमें कभी कभी अपने आपके उस ज्ञानशक्तिकी प्रतीति भी होती है कि नहीं ? होती है।

भगवानकी विशुद्धभक्ति— भगवानकी शुद्ध भक्ति वह है कि भगवानके गुणोंका यथार्थ परिज्ञान चले। अनुराग चले, वात्सल्य चले और क्षण क्षणमें अपने आपके शक्तिकी प्रतीति बढ़ती जाय। मैं प्रभु भी ऐसा हो सकता हूं। ऐसी अपने अन्तरमें प्रतीति भी बढ़ती जाय, वह है भगवानकी शुद्ध भक्ति और अपने आपकी प्रतीति बिना जो चलता है वह कभी घरकी उन्नतिके लिए, कभी प्रतिष्ठाकी उन्नतिके लिए, कभी कुल की उन्नतिके लिए चलता है। तो शुद्ध दृष्टि रखना प्रत्येक कल्याणार्थीका प्रथम कर्तव्य है। भगवानकी भक्ति करते हुए भी हम शुद्ध प्रयोजन रखें। मुझे कल्याण करना है, इस दृष्टिसे भगवद् भक्ति करें, धनकी पूर्तिके उद्देश्यसे न करें।

आत्माका सत्य— ये अभव्य जीव इतना महान् ज्ञान करके भी अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति नहीं करते हैं। ज्ञान-

प्रतीतिके लिए अपने ज्ञानके अभ्यासकी आवश्यकता है । इन कर्मोंके काटने की शक्ति हमारे श्रद्धान, ज्ञान, आचरणमें है । अपना श्रद्धान, ज्ञान, आचरण यथार्थ बनाएँ, इतना तक तो मेरा काम है । फिर कर्म कैसे न कटेंगे ? कर्म बंधन होता है रागद्वेष परिणामोंका निमित्त पाकर और इन कर्मोंका कटना आत्माके रत्नत्रय परिणामोंका निमित्त पाकर होता है ।

स्वरूपस्वातन्त्र्यका लक्ष्य— भैया ! ऐसा निमित्तनैमित्तिक भावका सम्बन्ध जानते हुए भी यह देखना आवश्यक है कि प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणतिसे ही परिणमता है, किसीका चतुष्टय किसी अन्यमें नहीं पहुंचता है । यह ज्ञानीका बड़ा बल है कि निश्चय और व्यवहार दोनोंका यथार्थ स्वरूप दृष्टिमें बना रहे । तो इस गाथामें यह बताया गया है कि जिसके दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय निमित्त है और अपने आपके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हो रही है, ऐसा अभव्य जीव ११ अंगका ज्ञान भी कर ले तो भी उसको आत्मलाभ नहीं हो पाता है ।

सबसे पहिले बताया था कि अभव्य जीव व्रत समिति गुप्ति आदिक का पालन करके व्यवहारनयका आश्रय करता है, फिर भी इसके आत्म-परिचय नहीं है इस कारण अज्ञानी है । उसके मोक्ष नहीं होता, इस बात पर फिर कहा था कि चलो उसे नहीं है ज्ञान, अतः मोक्ष नहीं जा पाता, पर किसी अभव्यके तो ११ अंग ९ पूर्व तकका ज्ञान भी हो पाता है फिर उसके क्यों मोक्ष नहीं हो पाता है ? तो उसके उत्तरमें भी कहा था कि श्रुत के अध्ययनका फल तो है आत्माका साक्षात्कार होना, सो यह तो हो नहीं पाता, इस कारण श्रुतके अध्ययनका लाभ भी नहीं होता । अब यह कह रहे हैं कि वाह उसे धर्मका दर्शन तो है फिर क्यों अभव्य जीवको मिथ्या-मार्गी बताया है ? उसके उत्तरमें आज कह रहे हैं ।

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अभव्यके धर्मके वास्तविक श्रद्धानका अभाव— अभव्य जीव नित्य ही यद्यपि धर्मका श्रद्धान करता है, ज्ञान करता है, रुचि करता है और बारबार उसका पालन करता है पर वह भोगके निमित्त करता है । कर्मोंके क्षयको निमित्त नहीं करता है । अभव्य जीव ज्ञान चेतनमात्र वस्तुका श्रद्धान नहीं कर पाता । कर्म चेतना और कर्मफल चेतना रूप वस्तुका श्रद्धान तो करता है, पर ज्ञान चेतना मात्र वस्तुका श्रद्धान नहीं करता, क्यों कि उसके भेदविज्ञानकी पात्रता नहीं है । मैं आत्मा सर्व परद्रव्योंसे और परभावोंसे विविक्त हूं, केवल ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अपने आपके

स्वभावका परिचय नहीं होता है तो वह अभव्य जीव यथार्थ धर्मका श्रद्धान नहीं कर पाता, किन्तु किसी शुभपरिणामरूप शांतिको ही श्रद्धानमें लेता है, उसकी ही रुचि करता है, उसका ही आचरण करता है।

अभव्यके भूतार्थधर्मका अभाव— भूतार्थ धर्म अर्थात् परमार्थ धर्म जिसके प्रतापसे मुक्ति अवश्य होती है वह धर्म है ज्ञानमात्र अर्थात् केवल ज्ञानस्वरूप अपने आपकी श्रद्धा करना, उस ज्ञानस्वरूपकी बार बार भावना करना और ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप उपायके द्वारा उस ज्ञानस्वभावका आचरण करना, यही है भूतार्थ धर्म, यह नहीं हो पाता है उसे। इसकी श्रद्धा अभव्य जीवको नहीं है, किन्तु जो शुभ कर्म हैं उनकी ही मात्र श्रद्धा होती है। शुभकर्म तो भोग निमित्त हैं, कर्म बंधके कारण हैं और उनके फल नाना प्रकारके भावोंका श्रद्धान प्राप्त होना या अलौकिक आत्माके दर्शन प्राप्त होना यह है। तो ऐसे शुभकर्म मात्रकी श्रद्धा करते हैं और इससे परे कोई शुद्ध आत्माका स्वभाव है, कोई सहज स्वरूप है, इसकी श्रद्धा नहीं हो पाती है।

अभव्यकी आगमफलकी अपात्रता— यहां उत्तर दिया जा रहा है इस प्रश्नका कि जिज्ञासुने पूछा था कि तुम अभव्य जीवोंके पीछे बहुत-बहुत पड़ रहे हो, वे व्रतादिकका पालन भी करते हैं फिर भी कहते हो कि वे अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। सो चलो मान लिया कि ये बाह्य चीजें हैं व्रत, तप वगैरह, पर अंतरंगमें तो ज्ञान भी बहुत है। आगम धर है अभव्य जीव, फिर उसे अज्ञानी क्यों कहा जाता है? सो उसके उत्तरमें यह बताया था कि वे आगमका बोझ तो लादते हैं पर उस आगमका फल है अपने आत्माके सहजस्वरूपका अनुभव कर लेना। यह उसके होता नहीं, इस कारण वह ज्ञानी नहीं है।

अभव्यकी भोगनिमित्त अधर्मकी श्रद्धा— कहते हैं कि कैसे-कैसे श्रुतका तो अध्ययन करता है और उसको अन्तरमर्म विदित नहीं है, उसे तो आत्माकी श्रद्धा है। फिर क्यों अज्ञानी कहा गया है? उसको तो यहां यह कहा जा रहा है कि अभव्य जीवको धर्मकी श्रद्धा तो होती है परन्तु वह भोगके निमित्त होती है, कर्मक्षयके निमित्त रूप धर्मकी श्रद्धा नहीं होती है। इस ही कारण वह अभव्य जीव भूतार्थ धर्मका श्रद्धान करने से, शुभ कर्म मात्रको धर्मरूपका ज्ञान करनेसे और उस शुभ क्रिया मात्रसे ही धर्म-रूप मानकर आचरण करनेसे और उसकी ही बारबार भावना और वृत्ति करनेसे यह अभव्य जीव उपरिम ग्रैवेयक तक भी पहुंच जाय, उस पदको भी धारण कर ले तो भी वह कभी छूट नहीं सकता। यह सब एक नैसर्गिक

देन है, अर्थात् अभव्य जीव कितने सारे काम कर लेता है ? ज्ञान भी सीखता है, वक्ता भी बहुत हो जाता है, व्रत, तप भी कर लेता है, सब कुछ करके भी कोई वजह तो है ऐसी कि जिसके कारण उसे अभव्य कहा और वह कभी सम्यक्त्वका भी श्रद्धान नहीं कर पाता। वह वजह है। ऐसा ही कर्म प्रकृतियोंका निमित्त पाकर उसके उपादानमें अयोग्यता बर्तती रहती है, नहीं जाती है दृष्टि अपने आपके सहजस्वभाव पर।

भूतार्थ व अभूतार्थ धर्मके आश्रयका फल— इसके भूतार्थ धर्मका श्रद्धान न होने से श्रद्धान भी वास्तविक नहीं है। यह प्रकरण कुछ पहिले यह चल रहा था कि निश्चयकी दृष्टिमें व्यवहारनयका प्रतिषेध होना युक्त ही है। इस प्रकारसे यहां यह सिद्ध किया गया कि चूँकि इस अभव्य जीव को अखण्ड आत्मस्वभावका परिचय नहीं हो पाता, इस कारण इसका व्यवहार कार्यकारी नहीं होता, सफल नहीं होता और जिस ज्ञानी जीवके इस अखण्डस्वभावका परिचय होता है, वह व्यवहारमार्गमें रहकर उस अखण्ड स्वभावके श्रद्धानके बलसे, रुचिके प्रतापसे ऊपर चढ़कर सर्वकर्मों से मुक्त होकर अपने सिद्धपदका अनुभव कर पाता है। यह अभव्य जीव अपने धर्मादिकका श्रद्धान नहीं करता है और न ज्ञानरूपके द्वारा उसका परिच्छेदन करता है, न प्रतीति करता है और न विशेष श्रद्धान रूपसे उस की रुचि करता है और ऐसे ही अपना अनुष्ठान भी नहीं करता है।

अन्तर ज्ञायकस्वरूपकी रुचि— अभव्य जीव व्रत तप किया करता है, पर वह पुण्यरूप धर्म अहमिन्द्रादिक पदवीके कारण रूपको अधिक आकांक्षा रूपसे करता है। वह मोक्षतत्त्वकी चर्चा तो करता है किन्तु भीतरमें उस वीतराग ज्ञायकस्वरूपका परिचय नहीं हो पाता, न उसकी रुचि होती, किन्तु जो वर्तमान विशुद्ध परिणमन हैं उस विशुद्ध परिणमनसे ही संतोष हो जाता है और उसको ही कर्मक्षयका निमित्त मानता है और उससे होने वाली एक आकुलताकी कमीरूप आकुलताको मानकर अपने को कृतार्थ समझ लेता है, वीतराग, निर्विकल्प परमसमाधिका उद्योग नहीं होता है, सो शुद्ध आत्माका सम्वेदन करना यही है निश्चयधर्म और है वह कर्मक्षयका कारणभूत। उसको उसे श्रद्धा नहीं होती है। कल्याणके लिए यह बात सुनिश्चित है कि आत्माका जो अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभाव है उसकी दृष्टि होना और उसमें दृढ़तासे रहना, परन्तु इस ही को चाहने वाले सभी प्रकारके ज्ञानी जीव हैं।

ज्ञानियोंकी मूलरुचिकी समानता— जिनको विषयकषायोंके भाव पीड़ित करते हैं ऐसे कर्मविपाकमें बसा हुआ वह सम्यग्दृष्टि जीव इस

आत्माके निराकुल अखण्ड स्वभावकी रुचि करता है और देश संयमभावी श्रावकजन भी इस अखण्ड ज्ञान स्वभावकी रुचि करते हैं और श्रावकजन भी इस अखण्ड ज्ञानस्वभावकी रुचि करते हैं पर जो जिस परिस्थितिमें है उस परिस्थितिके अनुसार उसकी प्रवृत्ति चलती है। जो विषय कषायों में, अशुभोपयोगमें बहुत विपाकोंसे दबा हुआ है, अशुभोपयोगसे निवृत्त होनेके लिए सभी प्रकारका आलम्बन अशुभ होता है उसकोपर सभी प्रकारका आलम्बन करके भी ज्ञानी जीव अन्तरमें कैवल्यस्वरूपका बराबर परिचय बनाए रहता है और जैसे अंतिम लक्ष्य उपलक्ष्य दो बातें हुआ करती हैं इसी प्रकार इन संयमी जीवोंके अपने कल्याणके बारेमें लक्ष्य और उपलक्ष्य रहता है। इसका लक्ष्य तो वही है जो साधुका है किन्तु गृहस्थके उपलक्ष्य ये देव पूजा आदिक समस्त कर्तव्य हैं।

लक्ष्य और उपलक्ष्यका दृष्टान्त— जैसे किसी पुरुषको अपना एक महल बनाना है तो उसका लक्ष्य हुआ महल बनाना। अब जो कुछ भी काम करेगा वह महल बनानेकी निगाहसे करेगा। पर उसके रोज-रोज कितनी बातें आती हैं? कितने ही प्रोग्राम बनाता है? आज ईंटें इकट्ठा करवाना है, कल सीमेन्ट का परमिट बनवाना है आदिक अनेक प्रकारके उसके प्रोग्राम चलते हैं। अब थोड़ासा मकान बन गया तो अब इसका कूता बनाना है, छत कराना है, अनेक भाव उसमें चलते हैं, प्रोग्राम चलते हैं, पर वे सब उपलक्ष्य रूप हैं, लक्ष्यरूप नहीं हैं। उन सबको करता है पर दृष्टि एक यही है कि ऐसा महल तैयार करना है। इसी प्रकार ज्ञानी गृहस्थ अथवा प्रमत्त सम्यग्दृष्टि जीवोंका लक्ष्य तो एक रहता है सिद्धपद पाना। विनती भी बोलता है, पूजा भी बोलता है, पर कैवल्यस्वरूपका अनुभवन करना ही उसका एक लक्ष्य है। पर उसके उपलक्ष्य परिस्थितिके वशसे अनेक हो रहे हैं। जैसे उस महल बनाने वाला जब महल बनवा चुका, सिर्फ पलस्तरभर रह गया तो क्या वह ईंटें इकट्ठा करवानेका प्रोग्राम बनाता है? नहीं बनाता है। जिस परिस्थितिमें जो आवश्यक होता है उसका प्रोग्राम बनाता है।

द्वितीय दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानीके लक्ष्य और उपलक्ष्यका विवरण— अथवा जैसे किसी मनुष्यको नीचेसे ऊपर आना है तो वह पहिली सीढ़ी पर कदम रखता है और दूसरी सीढ़ी कथञ्चित् उपादेय होती है, सर्वथा नहीं होती है। दूसरी सीढ़ी पर कदम रखनेके बाद तीसरी सीढ़ी अब उसके कथञ्चित् उपादेय है और तीसरी सीढ़ी अब उसके लिए त्याज्य हो गयी। तो इस परिस्थितिवश होने वाले व्यवहारधर्मको वह उपलक्ष्यरूप

से करता है, पर उसका परम लक्ष्य, मौलिक लक्ष्य वीतराग केवल ज्ञान-स्वभावका अनुभव है। इस तरह जैसे-जैसे निश्चयका आलम्बन उसके बढ़ता है, कैसे बढ़ता है कि जिसको अशुभोपयोग, विषयकषाय भंग न कर सके, ऐसी परिस्थितिमें व्यवहारका आलम्बन छूटता है। पर जिन जीवोंको निश्चयस्वरूपका परिचय नहीं है इस वीतराग ज्ञायक स्वभावका तो अनुभवन नहीं है और अशुभोपयोगसे बचनेका प्रयत्न न करे तो वह स्थिति कल्याणकी नहीं है। यह तो प्रकरण अभव्य जीवका है।

भव्यके भी मिथ्यात्वके उदयमें अज्ञानता— परंतु भव्य जीव भी यदि कोई वर्तमानमें मिथ्यादृष्टि है तो कितने ही समय तक अभव्यके सदृश शुभ कर्म मात्रमें जो भोग निमित्त है उनका श्रद्धान और आचरण करनेमें अपनी कृतार्थता माने तब तक वह जीव भी ज्ञानरहित है, सम्यक् रहित है, पर भव्य जीव ऐसा पुरुष बन सकता है कि वह अपने अन्तरमें विराजमान शुद्ध ज्ञायकस्वरूपका परिचय कर सके किन्तु जो कभी कर ही नहीं सकते उनको कहते हैं अभव्य जीव। यों तो सभी कहते हैं कि धर्म करो, धर्म करो, छोटेसे लेकर बड़ों तक सबमें यह प्रसिद्ध है कि धर्म करो पर साधारण जीवोंको धर्मके यथार्थ स्वरूपका परिचय नहीं है, और न सुखके स्वरूपका यथार्थ परिचय है—छोटे-छोटे भीख मांगने वाले लोग भी कहते हैं कि धर्म करो, इससे सुख मिलेगा, किन्तु उनकी निगाहमें कुछ खानेको दे दो, इतना तो धर्म है और उससे जो पेट भर गया, इतना सुख है।

धर्म और धर्मका फल— जरा और भी विशेषरूपसे अभव्यजीव चलते हैं तो उनके लिए वे ही सभी कर्ममात्र पुण्यभाव रूप वे तो धर्म हैं और इन्द्रादिक पद मिल जाय, लौकिक महत्व मिल जाय, यह उनका सुख है। ज्ञानी जीवका आत्मस्वभाव तो धर्म है और आत्मस्वभावमें उपयोग की स्थिरता करना, यह धर्मका पालन है और उसके फलरूप अनाकुलता है, सदाके लिए निर्विकल्प परिणमन रहना अर्थात् मोक्ष, यह उसका फल है। ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मतत्त्वके सम्वेदनरूप धर्मकी श्रद्धा करता है। शुद्ध आत्मतत्त्वका अर्थ है आत्माका अपने आप अपने सत्त्वके कारण जो सहजस्वरूप है उस स्वरूपका धारण होना, यही है धर्मपालन और अभव्य जीवका धर्मपालन विशुद्ध परिणाममें तृप्त होना और उसको धर्म-रूपसे श्रद्धान करना, यह है अभव्यकी दृष्टिका धर्म पालन।

परके आश्रयके त्यागके साथ रागका अभाव— भैया! जो काम जिस विधिसे होता है वह काम उसके प्रतिकूल उपायसे नहीं होता। संसार

अनात्मतत्त्वमें श्रद्धान, ज्ञान और आचरण होता है तो वह उस ही प्रकार होगा। मोक्षके प्रयोजनमें आत्मतत्त्वके श्रद्धान, ज्ञान और आचरण भी होता है तो वह उसी प्रकार होता है। इस प्रकार निश्चयनयके सिद्धान्तमें व्यवहारनय प्रतिषेधके योग्य है। इस प्रकरणमें ज्ञानी ऋषी संतोंका यह उपदेश है कि राग छोड़ो। सभी ऐसा कहते हैं। राग होता है परवस्तुका आश्रय करनेसे। राग जो छोड़ेगा उसको परका आश्रय छुटाना ही पड़ेगा। परवस्तुको उपयोगमें लिए रहे और राग छोड़ दे, यह नहीं हो सकता है। तो जहां राग छोड़नेका उपदेश किया गया है वहां परवस्तुके आश्रयके त्यागका उपदेश समझना। परवस्तुके आश्रय करनेका नाम व्यवहार है। सो जहां यह कहा है कि सर्वथा राग छोड़ो वहां यह बात निकालना है कि परवस्तुका आश्रय छोड़ो अर्थात् व्यवहार छोड़ो। पर जिन जीवोंके अशुभोपयोगरूप बनाने वाला परका आश्रय है, वह परका आश्रय तो छोड़ नहीं सकता और मोक्षमार्गमें चलनेकी दृष्टिसे शुभकर्म और व्यवहार करने का यत्न न करे, उसकी स्थिति शोचनीय है।

व्यवहार और निश्चयनयकी प्रतिषेध्य प्रतिषेधकता— जहां परम कल्याणकी बात होगी वहां पर निश्चयतः सर्वप्रकार परका आश्रय छूटेगा। इस प्रकार यह बताया गया है कि व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य है, प्रतिषेध करने के योग्य है और निश्चयनय प्रतिषेधक है। ऐसा सुनकर यहाँ जिज्ञासु पुरुष प्रश्न करता है कि कैसे व्यवहारनय तो प्रतिषेध्य होता और निश्चयनय प्रतिषेधक होता? यह प्रकरण उच्च ज्ञानी संतोंके उपदेशका है। जहां इतना बल नहीं है ऐसा प्राक् पदवीमें तो अपनी दृष्टिको तो स्वच्छ रखें और व्यवहारमार्गका अपना बराबर आलम्बन रखें, पर ऐसी भावना अपने आपमें बनाएँ कि हे नाथ! कब वह समय होगा कि जिस समय सर्व प्रकार के परका आश्रय छूटकर मैं अपने आपके स्वभावमें रत हो सकूँ? ऐसी भावना रखते हुए अपने आपकी पदवीके अनुसार अपना कार्य करें और भावना दृष्टि अपनी पवित्र बनाएँ।

नय दो होते हैं— निश्चयनय और व्यवहारनय। निश्चयनय कहते हैं एक ही पदार्थको देखना उसही पदार्थको और व्यवहारनय कहलाता है दो पर दृष्टि होना या अनेक पर दृष्टि होना। फिर उनका परस्परमें सम्बन्ध करना। तो निश्चयनय तो होता है आखिरी लक्ष्य और व्यवहारनयमें होती है पहिली प्रवृत्ति। तो व्यवहार प्रवृत्तिमें रहनेके बाद निश्चय तो आता है और व्यवहारनय छूट जाता है। तो व्यवहारनय प्रतिषेध्य हुआ और निश्चयनय प्रतिषेधक हुआ। तो पूछा जा रहा है कि किस प्रकारसे

व्यवहार प्रतिषेध्य है याने हरने वाला है और किस प्रकार निश्चय प्रतिषेधक है याने व्यवहारके प्रतिषेध के साथ आने वाला है ?

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ।।२७६।।
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ।।२७७।।

व्यवहारज्ञान— व्यवहारसे ज्ञान क्या कहलाता है ? जो शब्द श्रुत हैं इ...तो व्यवहार ज्ञान है क्योंकि हम व्यवहारसे किसी ज्ञानसे जानना चाहेंगे तो किसी परका आश्रय करके जान पायेंगे। जैसे घड़ेका जानना, मेज का जानना। तो जानना शुद्ध क्या होता है ? जानन अपनेमें कैसा परिणाम रखता है ? यह न बता पायेंगे। जहां परका नाम लेकर बताया गया वह व्यवहार है और जाननका खुदका जो स्वरूप है वह स्वरूप समझ में आए तो वह केवल अनुभवकी चीज है। उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। उसका प्रतिपादन किया जायेगा तो किसी का नाम लेकर किया जायेगा।

व्यवहारदर्शन— दर्शन क्या है ? जीवादिक जो ९ पदार्थ हैं वे दर्शनके आश्रयभूत हैं, इसलिए ९ पदार्थ दर्शन हैं। यह व्यवहारसे दर्शनका लक्षण है। कहते हैं कि प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तो ७ तत्त्वोंका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है यह कहना व्यवहार है क्योंकि सम्यक्त्वके परिणमनका प्रतिपादन परपदार्थका आश्रय लेकर किया है। जैसे ज्ञानका प्रतिपादन पदार्थोंको विषय बनाकर किया जाता है तो वह ज्ञान व्यवहार है, इसी प्रकार सम्यक्त्वका भी जब परका विषय करके प्रतिपादन किया जाता है तो वह व्यवहार है। यह हुआ व्यवहार दर्शन।

व्यवहारचारित्र— व्यवहारचारित्र क्या है ? ६ प्रकारकी जीवोंकी रक्षा करना व्यवहारचारित्र है। इसमें भी चारित्रका प्रतिपादन परवस्तुका आश्रय लेकर किया गया है। इसलिए वह व्यवहार है। तो यह तो हुआ व्यवहाररूप दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

निश्चयज्ञान— अब निश्चयरूप देखें तो शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रयभूत होनेसे ज्ञान है। यहां निश्चयके विषयका प्रतिपादन किया है इसलिए व्यवहार हो गया, पर इसमें परका आश्रय नहीं है, स्वयं उपादान है इसलिए निश्चय है। तो यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा शुद्ध आत्मतत्त्वके ज्ञानके परिणमनके कालमें उस शुद्ध आत्माका आश्रय किए हुए है।

जो ज्ञान, ज्ञानको जाने वह ज्ञान तो सजग है और जो ज्ञान ज्ञानातिरिक्त परको जाने वह ज्ञान सजग नहीं कहा जा सकता है। जिसे कहते हैं चित्प्रकाशका अनुभव करना, चित् प्रकाशका अनुभव करते हुए ज्ञान सजग रहता है।

निराकुलताका अविनाभावी ज्ञान— भैया ! निराकुलस्थिति पानेके लिए ऐसा यह दर्शन किया जाता है कि ज्ञानका स्वरूप क्या है ? ज्ञानका शुद्ध कार्य क्या है ? जाननरूप जो वर्तना है यह क्या होता है ? जब यह ज्ञान होता है तो निराकुलता उत्पन्न होती है। कहते हैं ना कि जहां ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय इनमें भेद न रहे, एक स्वरूप हो तो इसे कहते हैं उत्कृष्ट अवस्था, ध्यानकी अवस्था और स्वरूपाचरणकी पवित्र अवस्था। तो शुद्ध आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, कारण कि ज्ञानका आश्रयभूत वह आत्मा है।

शुद्ध ज्ञानकी स्वाश्रितता— यहां एक बात और जानना है कि ज्ञान यदि उपयोग लगाकर किसीको जाने तो वह पराश्रित हुआ और उपयोग रूप न जाने किन्तु स्वयं जाननरूप परिणमन हो वहां परका विषय नहीं हो ा। जितना मात्र उपयोग लगाकर जाननकी स्थिति होती है उसे कहते हैं बुद्धि लगाकर जानना। तो बुद्धि लगाकर जो जानन होता है वह जानना व्यवहाररूप है, किसी परका आश्रय करके जानन होता है। जब यह ज्ञान परका आश्रय छोड़ दे किसी परके विषयमें अपना ध्यान न जमाये तो परका आश्रय तो छूट गया और ज्ञानका आश्रय है स्वयं आत्मा वह छूटे ? कैसे इसलिए उसमें ज्ञानका आश्रय शुद्धआत्मा ही होता है। कोई जीव परका ध्यान छोड़ दे, किसी परका विकल्प न करे तो परका ध्यान छूटनेकी स्थितिमें पर आश्रय तो रहा नहीं, अब स्व आश्रय छूट सकता नहीं, क्योंकि ज्ञान है स्वके आधारमें तो उसमें केवल स्व ही ज्ञात होता है। जहां परवस्तु ज्ञात नहीं है वहां केवल स्व ही ज्ञात है।

निश्चयदर्शन— इसी प्रकार निश्चयनयका दर्शन क्या चीज है ? तो दर्शन भी शुद्ध आत्मा है, सम्यक्त्वका आश्रयभूत भी आत्मा ही है। भूतार्थनयसे इस आत्माके जाननका नाम सम्यग्दर्शन है। भूतार्थनय कहता है कि निष्क्रान्तको स्रोतमें जोड़े। निष्क्रान्तके मायने निकलते हुएका जो आधार है, जहांसे निकलता है उसको जोड़ दें। निकलते हुएको अलग न बनाए रहें, यही है भूतार्थपद्धतिका जानना। जीवमें परिणमन है, पर्याय है तो वह परिणमन पर्याय कहांसे निकला है ? गुणोंसे निकला है। जैसे जाननरूप परिणमन ज्ञानगुणसे निकला है, कषायरूप परिणमन चारित्र-गुणसे निकला है। चारित्रगुणका वह विकार परिणमन है। तो चाहे

विभाव हो, चाहे स्वभाव हो, निकला तो वह गुणसे है। तो कषायादिक परिणमन गुणोंसे निकले हैं और ये गुण जो भेद-भेदरूप दिखते हैं उनका आधार क्या है, इसकास्रोत क्या है? एक आत्मतत्त्व याने आत्मद्रव्य। सो गुणोंको आधारभूत अपने आत्मतत्त्वमें जोड़े तो यह हुआ भूतार्थशैली का दर्शन। तो सम्यक्त्वका विषय भी शुद्ध आत्मा है।

निश्चयचारित्र— भैया! सम्यक्त्व कहते हैं स्वच्छताको। जहां विपरीत अभिप्राय न रहा ऐसी जो आत्माकी नैसर्गिक स्वच्छता है उसका नाम है सम्यक्त्व और ऐसी स्वच्छताके रहते हुए जो भी वृत्ति उठ रही है उसका नाम है ज्ञान और जाननमें ही स्थिरता हो जाना इसका नाम है चारित्र। यह आत्मा ही परमार्थतः है निश्चय ज्ञान, निश्चयदर्शन और निश्चय चारित्र। चारित्र भी शुद्ध आत्मा ही है क्योंकि चारित्रका आश्रयभूत यह आत्मा ही है। इस प्रकारसे हुआ निश्चयज्ञान, निश्चयदर्शन और निश्चयचारित्र।

शब्दश्रुतकी मोक्षमार्गविषयक अनैकान्तिकता— अब इनका भेद देखिये, आचाराङ्ग आदिक जो ज्ञानका आश्रय है वह अनैकांतिक है अर्थात् आचार आदिकका ज्ञान हो जाने पर भी, सम्यग्ज्ञान हो जाने पर भी सम्यग्ज्ञान हो, न हो, मोक्ष हो; न हो पर जो निश्चय ज्ञान है, शुद्ध आत्मरूप ज्ञान है यह एकांतिक है निश्चयरूप है। शुद्ध आत्माका ज्ञान हो, श्रद्धान हो, आधार हो तो वह निश्चयसे मोक्षका मार्ग बनेगा। पर आचाराङ्ग आदिक शब्दश्रुतका जो आश्रय है ऐसा अंगोंका ज्ञान भी वह निश्चय नहीं रखता, कि वह मोक्षको करेगा। इस कारण व्यवहारनय प्रतिषेध्य है और निश्चयनय प्रतिषेधक है क्योंकि शुद्ध आत्माको ज्ञानादिक आश्रयका इसमें नियम है। इस लिए निश्चयनय प्रतिषेधक है और व्यवहारनय प्रतिषेध्य है। उसीका स्पष्टीकरण यह है कि आचार आदिक जो शब्द श्रुत हैं वह एकांतसे ज्ञानका आश्रयभूत नहीं है क्योंकि शब्दश्रुत का सद्भाव होने पर भी या असद्भाव होने पर आत्माके आश्रयका भाव होनेसे ज्ञान होता है। पर आचारांगादिका ज्ञान अभव्यजीव भी कर लेता है, किन्तु उसके ज्ञान नहीं है।

ज्ञानकी सजगता— जो अपने शुद्ध आत्माको जान लेता है, वह ज्ञानको मानता है। जो ज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जाने वह ज्ञान सजग है जो स्वकी अनुभूतिको कर लेता है वह परमार्थ ज्ञान है। और जो ज्ञान ज्ञानस्वरूपको छोड़कर किसी परपदार्थमें लगा हुआ है तो वह ज्ञान सजग नहीं हो सकता।

पराश्रितता— जीवादिक नौ पदार्थोंको, ७ तत्त्वोंको सम्यग्दर्शनका आश्रयभूत बताया है। इनका आश्रय करना सम्यग्दर्शन है। तो जीवादिक पदार्थोंका दर्शन अभव्यके भी होता है। होता है उसके ऊपरी ढंगसे। मर्म को तो वे जानते नहीं, जीव अजीव आदिक। जैसे स्वरूपमें वे यथार्थ हैं वैसा वह वर्णन करता है, वैसा ही उसकी दृष्टिमें होता है। तो फिर भी उस अभव्य जीवके सम्यग्दर्शन नहीं माना, इसी कारण जिसके दर्शनकी प्रतीतिका आश्रय केवल शुद्धआत्मा है। उसके जीवादिक पदार्थ ये हैं— इस प्रकारका आकाररूप श्रद्धान हो या न हो तो भी सम्यग्दर्शन होता है। अपनी शुद्ध वृत्ति बनाएँ तो सम्यग्दर्शन व ज्ञानका लाभ मिलेगा। एक शुद्ध आत्माका आश्रय लेने से ही सम्यक्त्व होगा।

आत्मस्पर्शके बिना अचारित्रत्व— अभव्य जीव अनेक प्रकारसे तत्त्वोंके नाम ले रहा है पर नाम लेते हुए भी व्याख्यान करते हुए भी उस ज्ञानस्वभाव की झलक न होने से बड़ी तपस्यावों को करते हुए भी वह अचारित्री होता है। यह व्यवहारचारित्र है, इसमें मुक्तिमार्गका नियम नहीं है। अंतरंगमें ज्ञानकी स्थिरता रखते हुए आनन्दका अनुभव करना। यही है निश्चय चारित्र। तो जीव दया करते हुए भी निश्चयचारित्र हो अथवा न हो यह भी सम्भव है। इस कारण ६ कायोंकी रक्षा करना, निश्चयचारित्र नहीं है, मुक्तिका मार्गभूत चारित्र नहीं है।

ज्ञानका वास्तविक आश्रय— शुद्ध आत्मा ही ज्ञानका आश्रय है क्यों कि आचार आदिक इन सब श्रुत विकल्परूप आगम इनका ज्ञान हो या न हो, यदि शुद्ध आत्माका आश्रय है तो उसके सद्भावसे जीवादिक पदार्थों का सद्भाव होने पर या असद्भाव होने पर शुद्ध आत्माकी प्रतीतिमें सद्भाव है तो उसका दर्शन होता ही है। शुद्ध आत्माका, केवल आत्माका ज्ञानस्वरूप आत्माका आश्रय करके होने वाले दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें स्वात्मकता रहती है सो वह मोक्षमार्ग है, पर बाह्यपदार्थोंका ज्ञान किया, जीवादिकका बोध किया, ऐसा नहीं है।

मूलके आश्रयकी नियामकता— भगवानके वचनोंमें शंका न करना चाहिए यह व्यवहार ठीक है, पर अनुभूति जो उमड़ती है वह भगवानके शब्दोंमें शंका न करें, मात्र इस प्रकारकी स्थितिमें नहीं उमड़ती है किन्तु भीतरसे उमड़ होती है। जब ज्ञान ज्ञानस्वभावका आश्रय करता है तब आनन्द उमड़ता है। इस कारण ये सब व्यवहार ज्ञान हैं, और व्यवहार चारित्र हैं। चारित्रकी दशा रूप परिणमन हो अथवा न हो, जो शुद्ध आत्माका आश्रय किए हुए हैं उनके चारित्र होता है। इसका अर्थ यह है कि

व्यवहार धर्ममें लगे हुए पुरुषोंकी बात नहीं कह रहे हैं कि उनमें दया नहीं है। वे तो भले हैं, किन्तु प्रवृत्तिधर्मसे उत्कृष्ट धर्ममें जो लगते हैं, अपने आपके शुद्ध आत्माकी उपासनामें लगे हुए हैं, उनके निश्चयतः चारित्र होगा, उनके हिंसा परिणाम नहीं है, रागका विकल्प नहीं है, रागकी अनुभूति नहीं है। शुद्ध ज्ञानस्वभावका अनुभवन चल रहा है इस कारण ये सब निश्चयदर्शन, निश्चयज्ञान और निश्चयचारित्र जो हैं वे व्यवहारके प्रतिषेधक हैं।

व्यवहारकी करुणा— देखो भैया! निश्चयको स्थान देकर यह व्यवहार फिर हट जाता है। व्यवहार है प्रतिषेध्य, पर व्यवहार कितना उपकारी है कि व्यवहारका फलभूत जो निश्चय है उस निश्चयको उत्पन्न करके यह व्यवहार खुद मिट जाता है। ऐसा कोई दयालु है जो अपना विनाश करके दूसरेको जमा जाय? यह व्यवहार ही ऐसा है कि अपना विनाश करके निश्चयको जमा जाता है ऐसा निश्चय, दर्शन, ज्ञान, चारित्र जब उत्पन्न होता है तो व्यवहार हट जाता है और ऐसी अनुभवकी स्थिति तब होती है कि वहां मात्र अपना आत्मा ही दृष्ट होता है। जाननमें, श्रद्धानमें, स्पर्शनमें, रमणमें जो रहा करता है ऐसा निश्चयभूत जो रत्नत्रय है वह व्यवहारके रत्नत्रयका प्रतिपादक है। व्यवहार रत्नत्रय कार्यकारी है। जब तक निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति नहीं होती दृढ़ता नहीं होती।

व्यवहारपूर्वक व्यवहारका प्रतिषेध— जैसे सीढ़ियोंका आश्रय लेना तब तक कार्यकारी है जब तक ऊपर न चढ़ जाय। उसका ऊपरका चढ़ना प्रतिषेधक है और सीढ़ियोंसे चढ़ना प्रतिषेध्य हुआ। इसी तरह व्यवहार-रत्नत्रय प्रतिषेध्य हुआ और निश्चय रत्नत्रय प्रतिषेधक हुआ। यह प्रकरण उसे छूता हुआ है जहां यह उपदेश दिया था कि रागादिक अध्यवसान सब तजना चाहिए। तो रागादिक तजना चाहिए इसका अर्थ क्या है कि परका आश्रय तजना चाहिए। राग होता है परका आश्रय करके। इस राग तजनेके उपदेशमें समस्त परके आश्रयको छुटाया है। तो परका आश्रय छूटा, मायने व्यवहार छूटा। यहां यह उपदेश दिया कि व्यवहारके छूटनेके भीतर व्यवहारका आश्रय कर चुकना गर्भित है, पर वह ढंगसे छूटे। ऐसा न छूटे कि पहिलेसे छोड़े रहें। तो ऐसे छोड़े हुए व्यवहारसे काम नहीं चलता है। मूल बात है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, यह ज्ञानमात्र आत्मा अपने ज्ञानसे अपने ज्ञानस्वरूप आत्माको जानें तो इसके कल्याणकी प्रगति है।

छुटकाराकी प्रियता— भैया! सर्वजीवोंको छुटकारा प्यारा होता

है। स्कूलमें लड़के पढ़ते रहते हैं तो उनकी इच्छा होती है कि कब छुट्टी मिले और जब छुट्टी मिल जाती है तो उसके बाद अपना बस्ता, स्लेट, पाटी उठाकर कैसा दौड़ते हैं? हो हल्ला करते हुए खुशीसे भागते हैं। यह खुशी उनको किस बातकी है? छुटकारा मिलनेकी है। छुटकारेका आनन्द सबसे उत्कृष्ट आनन्द होता है। वह तो ६ घन्टोंका बन्धन है पर यह कितना विकट बन्धन है कि शरीरमें जीव फँसा हुआ है। शरीरसे निकल नहीं सकता। जो ज्ञानमय पदार्थ है जिसका कार्य सारे विश्वको जान जाना है, ऐसा यह आत्मा इन्द्रियके द्वारा जान पाता है और सबको नहीं जान पाता है। रागद्वेष विभाव इसके स्वभावमें नहीं हैं, फिर भी उत्पन्न होता है सुख और दुःख, सो ये इस संसार विषवृक्षके फलस्वरूप हैं। ऐसे विकट बन्धनमें पड़ा हुआ वह आत्मा यदि कभी छूट जाय तो उसके आनन्दका क्या ठिकाना?

धर्ममय पदकी प्रियता— जो इस शरीरके बंधनसे छूट जाते हैं उनको ही अरहंत और सिद्ध कहते हैं। उन परमात्मप्रभुकी उपासनामें अपने आपकी सावधानी रखनी है। आप लोगोंने इस ग्रीन पार्कमें मंदिर बनाया तो कितने प्रेमपूर्वक बनाया, यह देखने वाले ही समझ सकते हैं। धर्मसे यदि रुचि न होती तो ऐसे परिश्रमसे कमाया हुआ धन आप लोग कैसे लगा देते तो धर्म ज्ञानी संत पुरुषोंकी दृष्टिमें घरसे भी अधिक प्यारा है। आप लोगों को घर उतना अधिक न प्यारा होगा जितना धर्म प्यारा है। यदि कभी धर्मका काम आ जाय तो आप लोग अपने घरके काम काज छोड़कर जरूर उस धर्मकार्यमें कुछ समय व्यतीत करेंगे। धर्मपर तो सबकी सामूहिक दृष्टि है, और धर्मके नातेसे जितने सधर्मीजन हैं वे सब एक परिवारके लोग हैं। जब धर्मके प्रसंगमें आप पड़ौसियोंसे ग्रामवासियोंसे मिलते हैं तो आप इतनी सहृदयतासे मिलते हैं जितना कि घरके लोगोंसे मिलते हैं।

करने योग्य काम— जिन्हें धर्म प्रिय है और धर्ममार्गकी ऊंची-ऊंची बातें जिन्हें विदित होती हैं वे धर्ममार्गमें वैसे ही वैसे बढ़ते जाते हैं और बढ़-बढ़कर कभी अरहंत और सिद्धकी स्थिति पा लेते हैं, यही है बंधनसे छुटकारा। अपनेको क्या काम करनेके लिए पड़ा है? बंधनसे छुटकारा पानेका काम पड़ा हुआ है। अपनी दृष्टिमें केवल एक ही बात रखिए कि हमको बंधनसे छुटकारा पाना है। मुख्य काम यही है। फिर गृहस्थीमें रहते हुए दसों बातें चलती रहती हैं। चलें वे भी पर अपना मुख्य लक्ष्य होना चाहिए कि हमें बंधनसे छूटना है।

शरीरसम्बन्धकी कष्ट कारणता-- सर्दी गर्मी आदिके कष्ट होते हैं, ये सभी कष्ट इस शरीरके सम्बन्धसे होते हैं। शरीरका सम्बन्ध होता है कर्मोंके उदयके कारण। कर्मोंका उदय तब होता है जब कि पहिले बांध रखा हो। तो कर्मोंका बंधन होता है रागादिक भावोंके कारण। यदि रागादिक भाव न हों तो कर्म बंधन मिटे। कर्म बंधन मिटे तो फिर उदयमें कैसे आए? जब कर्म उदयमें न आये तो शरीर कैसे मिलेगा और जब शरीर न मिलेगा तो उसको दुःख न मिलेंगे। सारे दुःख इस शरीरके सम्बन्धसे हैं। जहां कोई शरीर न हो, केवल जीव हो और दुःख हो जाता हो, ऐसा कोई हो तो बतावो। सर्दी लगती है तो शरीरके सम्बन्धसे, गर्मी लगती है तो शरीरके सम्बन्धसे, भूख प्यास लगती है तो शरीरके सम्बन्धसे।

शरीरसम्बन्धजा इष्टानिष्टकल्पना-- यह मेरा इष्ट है, यह अनिष्ट है, यह भी कल्पना शरीरके सम्बन्धसे होती है। क्योंकि अपनेको इस शरीर मात्र मान रखा है। तो इस पर्यायबुद्धिके होनेसे जिससे कुछ अपना सुख अनुभव कर लिया उसे इष्ट मान लेते हैं और जो उनके सुखसाधनमें बाधक हुआ उसे अनिष्ट मान लेते हैं। तो इष्ट अनिष्टका भी जो प्रकार बढ़ता है वह शरीरके ही सम्बन्धसे बढ़ता है। तो यह निश्चय करो कि जितने भी जीवको क्लेश हैं वे सब शरीरके सम्बन्धसे हैं।

रागपरिहारका मूल उपाय-- भैया! ऐसा उपाय होना चाहिए कि इस शरीरका सम्बन्ध छूटे। केवल आत्मा ही आत्मा रहे तो कल्याण हो सकता है। तो शरीरका बन्धन छुड़ानेके लिए, संकट दूर करनेके लिए कर्तव्य यह है कि रागादिक भाव पैदा न हों। रागादिक भाव पैदा न हों इसका भी कोई उपाय है क्या? कुछ सोच तो रखा होगा। चाहे कर न सके हो पर मान तो रखा होगा कि रागादिक भाव मेटनेका कोई उपाय है। रागादिक भाव मेटनेका कोई उपाय सोचा तो होगा कि घर बार त्याग दें, जंगलमें पड़े रहें तो रागादिक छूट जायेंगे। यद्यपि यह भी सहकारी कारण है पर मूलसे रागादिकभाव छूट जायें, इसका उपाय यह नहीं है। रागादिग भाव छूटनेका उपाय रागादिक भाव मेरे नहीं हैं ऐसा परिणाम बनाना है। यही रागादिकके छुटानेका मूल उपाय है. रागादिक औपाधिक भाव हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्य तेज हूं, शुद्ध चिन्मात्र हूं। उस शुद्ध चैतन्यमात्र से अतिरिक्त जितने भी परिणाम हैं वे समस्त अध्यवसान बंधके कारण कहे गए हैं।

अब इस प्रसंगमें यह प्रश्न होता है कि रागादिक सदा तो होते

नहीं। होते हैं कभी तो क्यों होते हैं? इनका निमित्त क्या है? आत्माके रागादिक होनेमें आत्मा निमित्त है या परपदार्थ निमित्त है? ऐसा किसी ने एक क्षोभ पैदा किया है। तो उत्तर देते हैं कि—

जह फलियमणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमादीहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

रागादिककी औपाधिकतापर स्फटिकका दृष्टान्त—जैसे स्फटिक मणि स्वयं अपने आप अपने आपकी ओरसे शुद्ध है वह रागादिक भावों से अर्थात् लाल पीला बन जाय इस प्रकार स्वयं नहीं परिणमता है। पर वह स्फटिकमणि दूसरे लाल काले आदिक पदार्थोंका निमित्त पाकर रंग रूप परिणम जाता है। दर्पणकी तरह चारों ओरसे स्वच्छ एक स्फटिक पाषाण होता है, मणि नहीं, स्फटिक पाषाण तो देखा ही होगा और सफेद मणि भी देखा होगा, वह स्वयं स्वच्छ है, उसमें रागादिक नहीं हैं। स्फटिक मणिके पास हरा, पीला, नीला डाक लग जाय तो वह स्फटिकमणि हरे पीले आदि रूप परिणम जाता है। वह विकार स्फटिकके कारण होता है या उसके साथ जो लाल आदि चीजें लगी हैं उसके कारण होता है। जो दूसरी चीज लगी है लाल, पीली आदि उसका निमित्त पाकर यह स्फटिक मणि लाल पीले रूप परिणमा। इस ही प्रकार आत्मा स्वयं शुद्ध है, वह रागद्वेषरूप नहीं है परन्तु दूसरी जो रागादिक प्रकृतियां हैं, दोष हैं, उनके निमित्तसे ये रागादिकरूप किए जाते हैं।

निमित्त होनेपर भी नैमित्तिक परिणति मात्र उपादानमें— भैया! यह आत्मा रागादिक रूप जो परिणमा है वह स्वयं नहीं परिणमा है किन्तु दूसरी प्रकृतिके सम्बन्धसे उसका निमित्त पाकर यह रागादिक रूप परिणमा है। इस दृष्टांतमें यह भी दृष्टि दें कि रागादिक रूप परिणमा है तो वह स्फटिकमणि ही परिणमा है, पर वह दूसरे पदार्थका सम्बन्ध पाकर परिणमा है। जैसे कोई आदमी गाली दे तो दूसरा गुस्सा करता है, तो देखने वाले लोग तो यह कहते हैं कि गाली देने वाले ने गुस्सा पैदा कर दिया है। पर गुस्सा जो पैदा किया है, गुस्सारूप जो परिणमा है वह वही परिणमा है, गाली देने वाले ने गुस्सा नहीं किया है। किन्तु गाली देने वालेके शब्दोंका निमित्त पाकर यह पुरुष गुस्सारूप परिणम गया है। इसी प्रकार कर्मोंका निमित्त पाकर यह आत्मा रागद्वेषरूप परिणम गया है।

एकत्वप्रतीतिका कर्तव्य— अब उपाय क्या है? ऐसा क्या कार्य

करें कि जिससे नवीन कर्मोंका बंध न हो, नवीन कर्मोंका बंधन न हो। इसका उपाय यह है कि रागद्वेषका उपयोग कम करदें और यह मानें कि यह सर्व विश्व मुझसे पृथक है, मैं केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूं। अपने आप में अपने आपके चैतन्य तेजको ही देखो और उसे ही मानो कि यह मैं हूं। बाकी सर्व वैभव घर समुदाय परिवारजन सब कुछ मैं नहीं हूं, मैं तो एक चैतन्यस्वभाव मात्र हूं, ऐसी अन्तरमें प्रतीति हो तो आत्माको ज्ञानबल प्राप्त होगा।

विकारमें उपाधिकी सन्निधिका नियम— जैसे स्फटिक पाषाण स्वयं किसी रूप परिणमनेका स्वभाव नहीं रखता है, वह तो स्वच्छरूप ही परिणमता रहता है, उसमें पर-उपाधिकी जरूरत नहीं है, पर अपनी स्वच्छताके प्रतिकूल जब वह स्फटिक पाषाण लाल हरा आदिरूप परिणम जाता है तो वहां पर-उपाधिका सन्निधान आवश्यक है। तो यद्यपि यह स्फटिक पाषाण स्वयं परिणमनका स्वभाव रखता है, फिर भी खुद तो जुदा स्वभाव है, इस कारण रागादिक भावोंका निमित्त नहीं बन पाता। रागादिक भावोंके निमित्तका अभाव है इस कारण रागादिक रूप यह आत्मा बिना निमित्त पाये अपने आप नहीं परिणमता किन्तु परद्रव्योंके ही द्वारा रागादिकके निमित्तभूत जो है उनका ही निमित्त पाकर यह आत्मा अपने स्वभावसे चिगकर स्वयं रागादिकरूप परिणमता है, अर्थात् अपनी परिणतिसे रागादिकरूप बन जाता है।

वर्तमान स्थितिमें प्रवृत्ति और भावना— इस आत्माके रागद्वेषरूप आदि विकार और विकासाभाव बनानेमें निमित्त क्या हुए? ये जो ८ प्रकारकेकर्म हैं और उत्तरभेदसे १४८ तरहके हैं। इस घटनामें यह जानते रहना चाहिए कि अपनी रागादिक परिणति होकर भी यह मैं नहीं हूं। यह उदयजन्य चीज है, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, ऐसी अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी दृष्टि करें तो मेरा कल्याण हो सकता है। यह तो हुई सिद्धान्त की बात। पर गृहस्थावस्थामें हम आपको क्या करना चाहिए? जो प्रेक्टिकल बात हो, जिससे आप गृहस्थजन धर्मके मार्गमें लगे रहें— वह कर्तव्य है एक प्रभु पूजा।

प्रभुपूजामें ज्ञानीका विवेक— प्रभु-पूजामें भगवानकी मूर्तिका एक बड़ा विशुद्ध आलम्बन है। हम आप भक्ति करते हैं अरहंतकी और आलम्बन रखते हैं उसकी मूर्तिका। किसी दर्शकको दर्शन करते हुए क्या आपने ऐसा सुना है कि हे भगवान! तुम डेढ़ बेथाके लम्बे हो, जयपुरमें बने हो, अमुक कारीगरने गढ़ा है, ऐसा सुना है क्या? मंदिरमें आकर

तुम दर्शन करते हो तो ऐसा कहते हुए तुमने किसीको भगवानकी पूजा करते हुए न देखा होगा तो उस पत्थरकी पूजा होती है क्या ? उस पत्थर की पूजा नहीं होती है। अरे उस मूर्तिके समक्ष आकर यह पूजा करते हैं कि हे भगवान वीरदेव ! तुमने चार घातिया कर्मोंका विनाश कर दिया, तुमने कैवल्य अवस्था प्राप्त की। हमे भी आप जैसा ही बनना है। सो जो भी मंदिरमें मूर्तिका पूजन करता है वह पत्थरकी पूजा नहीं करता है, वह प्रभुके गुणोंकी पूजा करता है। मंदिरमें जिसकी मूर्ति स्थापित की गई है उसके गुणोंकी पूजा होती है, पाषाणकी पूजा नहीं होती है। गृहस्थजनोंके लिए पाषाणकी मूर्ति भगवानकी पूजाके लिए एक आलम्बन मात्र है। तो श्रावकोंके कर्तव्योंमें सर्वप्रथम कर्तव्य है प्रभुकी पूजा करना।

प्रभुपूजाके भावका प्रभाव-- भगवान वीर प्रभुके समवशरणमें सब लोग जा रहे थे—घोड़े, बंदर, नेवला, सांप आदि सभी जा रहे थे। एक मेढक भी उछलते कूदते समवशरणमें पहुंचने जा रहा था। भगवानके समवशरणमें मनुष्य, देव, पशु, पक्षी सभी बैठकर सुनते हैं और जिस वीर के उपदेशको सुनकर मनुष्य आत्माका लाभ लेते हैं, इसी प्रकार पशुपक्षी आदि वीरकी चर्चा सुन कर अपना लाभ लेते हैं। तो एक मेढक जा रहा था एक फूलकी पंखुड़ी दबाए हुए कि वीर प्रभुका दर्शन करेंगे। वह उछलता कूदता जा रहा था। श्रेणिक राजा भी हाथी पर चढ़ा हुआ जा रहा था समवशरणमें पहुंचने के लिए। मार्गमें हाथीके पैरसे वह मेढक दब गया, जो फूलकी पंखुड़ी लेकर भगवानके समवशरणमें जा रहा था। मेढक मर कर अन्तर्मुहूर्तमें ही देव हो गया और चंद मिनटोंमें ही देव बनकर जवान हो गया।

प्रभु पूजाकी महिमा— समवशरणमें पहुंच गया। राजा श्रेणिक जब समवशरणमें पहुंचा तो उसने देखा कि इस देवके मुकुटमें मेढकका चिह्न बना है, सो पूछा कि यह देव कौन है जो मुकुट बांधे है और जिसके मुकुटमें मेढकका निशान बना है ? तो वहां उपदेश हुआ कि यह देव पूर्वभवमें मेढक था, आप हाथी पर बैठे हुए समवशरणमें चले जा रहे थे और मेढक भी उछलता कूदता समवशरणमें चला जा रहा था। सो हाथी के पैरके नीचे आकर मेढक मर गया था और वही मेढक मरकर चंद मिनटमें ही देव हुआ। तो प्रभुकी पूजाके भावसे समवशरणमें जाता हुआ मेढक चन्द मिनटमें ही देव बन गया। प्रभुकी पूजामें बहुत गुण हैं। यदि कोई भक्तिपूर्वक गद्गद् भक्तिसे प्रभुकी ओर अपनी दृष्टि रखता है, प्रभुके गुणोंमें ही चित्त देता है तो उसकी बहुतसी बाधाएँ, बहुतसे संकट, पापका

उदय शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। प्रभु पूजाका क्या वर्णन किया जाय ?

प्रभुभक्तकी एक कथा— एक कथानक है कि एक पुरुष अपने मकान में एक मूर्ति रखकर रोज पूजा करता था। पूजा करते-करते उसको कई वर्ष हो गए। पहिले तो वह गरीब था, पर प्रभु भक्तिसे उपार्जित पुण्यके ही कारण उसकी गरीबी दूर हो गई थी। उसके यहां धन काफी बढ़ गया था। सो एक रात्रिमें चार चोर उसके घरमें धन चुरानेके लिए गए। चारों चोरोंने विचार कर लिया था कि उसका सारा धन भी ले लें और उसे मार भी डालें ताकि पीछे कोई झगड़ा न रहे। सो उसके घरमें घुस गए और कह दिया कि देखो हम तुम्हारा धन और तुम्हारी जान लेनेके लिए आये हैं। तो वह बोला कि अच्छा है, मेरा धन ले लो, मेरी जान ले लो इसकी मुझे चिंता नहीं है पर थोड़ीसी एक बात है कि इस प्रभुकी मूर्तिको हम ३० वर्षसे पूजते आए हैं, सो आप लोग थोड़ा अवसर दें कि इस मूर्तिको हम पानीमें सिरा आएँ फिर हमें कोई चिंता न रहेगी। निःशल्य होकर हम धन दे देंगे और जान भी देंगे। चारों चोरोंने विचार किया कि अभी रात्रिके १२ बजे हैं एक डेढ़ घंटेमें आ जायेगा, सो यह सोचकर दो चोर संगमें हो लिए और वह चल दिया।

प्रभुभक्तकी प्रार्थना— वह उस मूर्तिको पानीमें लेकर गया। जब कमर बराबर जलमें पहुंच गया तो उस प्रभुमूर्तिकी विनती करता है कि हे भगवन्! मैं ३० वर्षसे तुम्हारी पूजा करता आया हूं, अब मैं तुम्हें इस जलमें सिरा रहा हूं, आपको सिरा करके जाऊँगा और अपने प्राण दूंगा। मैंने सोचा कि जान देनेके बाद फिर आपकी पूजा करने वाला कोई न होगा, सो इन्हीं हाथोंसे आपको सिराता हूं। पर एक बात पूछता हूं नाथ, मुझे किसी बातकी गम नहीं है। मैं आपको सिराता हूं तो यह भी एक धर्मकी टूटी विधि है और जान जायेगी इसकी भी रंच परवाह नहीं है, पर दुनिया क्या कहेगी कि प्रभुभक्ति करनेका यह फल होता है कि जान जाया करती है। इसका जरूर खेद है कि थोड़ा धर्मकी प्रभावनामें कमी आ जायेगी।

प्रभुभक्तका समाधान— इतनेमें ही एक ध्वनि ऐसी आई कि हे भक्त! तू विषाद न कर, ये जो चार चोर आए हैं इनको तूने पहिले भवों में मारा था। सो जो जिसके द्वारा मारा जाता है वह प्रायः अगले भवमें अपना बदला चुकाता है। सो तू ने इन चारों चोरोंको मारा था। यदि तुझे ये क्रम क्रमसे मारते तो चार भवोंमें मारते। एक-एक भवमें मारता, दूसरा दूसरे भवमें, इसी प्रकार तीसरा और चौथा भी मारता, पर यह

प्रभुभक्तिका ही प्रसाद है कि चार बार तुझे नहीं मारना पड़ रहा है, एक बार ही चारोंके द्वारा मिलकर मारा जा रहा है। यह प्रभुभक्तिका ही प्रसाद है।

प्रभुभक्तिसे उपार्जित पुण्यका प्रसाद— जब ऐसी बात दो चोरोंने सुनी और जाना कि इसकी तो बड़ी महिमा है, तो कहा—भैया अब न सिरावो इस मूर्तिको। अब हमारे साथ घर लौटकर चलो, हम चारों विचार करेंगे तब इसे पानीमें सिराना। उन दोनों चोरोंके साथ वह आदमी घर गया। घर पर उन दोनों चोरोंने साथके दोनों चोरोंसे सारी बात कह सुनाई। चारों चोर सोचते हैं कि प्रभु ने जब इसके तीन भवोंका मरण काट दिया तो क्या हम चारों मिलकर इसका एक भव नहीं काट सकते हैं? सो कहा कि जावो, अब हम तुम्हारी न तो जान लेंगे और न तुम्हारा धन लूटेंगे। तुम प्रभुकी उसी तरहसे उपासना करते रहो जिस तरहसे अभी तक करते आये हो। तो प्रभुस्वरूपकी बड़ी महिमा है, पर लगन होनी चाहिए ऐसी जैसी कि अपने परिवारके लोगोंमें या अन्य किसीमें करते हो। उससे भी अधिक लगन प्रभुकी ओर लगनी चाहिए।

विकारमें निमित्तभूत पदार्थ— जैसे स्फटिक पत्थर चारों तरफसे शुद्ध स्वच्छ होता है, उसके पास जिस रंगका कागज लगावें उसमें उसी प्रकारका प्रतिभास होने लगता है। तो यहां जैसे यह पूछा गया कि स्फटिक मणिमें जो नाना रंग झलके उसमें निमित्त कारण क्या पाषाण ही है या कोई दूसरी चीज है? यदि कहेंगे कि स्फटिक पाषाण ही है। तो स्फटिक पाषाण तो सदा रहता है। यदि स्वयंके ही निमित्तसे ऐसा रंग पड़ गया, झलक गया तो उसमें यह रंग सदा रहना चाहिए और कहें कि उसमें दूसरा कोई निमित्त है तो उसका अर्थ यह हुआ कि जो कागज है वह है निमित्त और स्फटिक जो स्वयं लालरूप परिणम गया, वह है उपादान। तो जो खुद लाल हो रहा है ऐसे उस डंकका निमित्त पाकर स्फटिकमणि स्वयं रंग रूप परिणम रहा है।

निमित्तसे विविक्त निजकी उन्मुखता— इसी तरह यह आत्मा स्वयं स्वच्छ है, इसका स्वभाव जाननमात्र है, वह स्वयं रागद्वेष रूप नहीं परिणम सकता है, यहां कोई परद्रव्यका सम्बन्ध है। जिनका सम्बन्ध है वे हैं नाना कर्मपर्यायें। उनके उदयका सम्बन्ध पाकर यह आत्मा रागादिरूप परिणम जाता है। तो ऐसे परिणमते हुए आत्मामें यह निर्णय करना कि ये रागादिक मेरे स्वभाव नहीं हैं, ये परकृत भेष हैं, इन रूप मैं नहीं हूं, इनसे मेरा हित नहीं है, ये रागादिक भिन्न चीज है, मैं तो शुद्ध-

ज्ञानमात्र हूं, ऐसा अपने आपमें शुद्ध ज्ञानमात्रका अनुभव करना सो मोह को दूर करनेका उपाय है। वस्तुका स्वभाव ऐसा है कि वस्तु अपने आपकी सत्ताके कारण विकाररूप नहीं है। उसमें रंच बिगाड़ नहीं है। बिगाड़ जितना होता है वह किसी परद्रव्यके सम्बन्धसे होता है। जब परद्रव्य मेरे कुछ नहीं हैं तो परद्रव्योंके सम्बन्धसे होने वाले विकार भी मेरा-स्वरूप नहीं हैं। मेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञानमात्र है। ये सब मोहके नाच हैं।

मोहनृत्य— भैया! घरमें बस रहे हैं, लोगोंसे प्रीति बढ़ा रहे हैं। इन अनन्त जीवोंमें से दो चार जीवोंको छांटकर अपना मान रहे हैं, यह सब मोहका नाच है। जीव तो सभी अकेले स्वतंत्र अपने स्वरूप रूप हैं। जीवका अन्य कुछ नहीं लगता, मगर मोहका ऐसा प्रबल नाच है कि जिस उदयमें यह जीव पिसा जा रहा है, इसका जो शुद्ध चैतन्य प्राण है उसका घात होता चला जा रहा है फिर भी यह जीव मस्त हो रहा है रागद्वेषमें।

कल्पनाशस्त्रसे स्वका घात— यह जीव अपने चैतन्यप्रभुकी हिंसा कर रहा है, बरबाद हो रहा है, निगोद पशु पक्षी आदिक गतियोंमें जन्म मरण लेता फिर रहा है—ऐसी कठिन दशा इस कारणपरमात्मतत्त्वकी, कारणसमयसारकी हो रही है। वह केवल मोहके कारण हो रही है। जगत् में मोहके सिवाय और दुःख ही क्या है? कोई इष्ट गुजर गया तो बड़ा दुःखी होता है। क्या दुःख हो गया? जगत्में अनन्त जीव हैं वे जन्म मरण करते हैं, कोई कहीं पैदा होता है, मरकर फिर कहीं चला जाता है यह तो इस जगत्की रीति है और जो गुजर गया उसमें कोई स्वरूप नहीं है। तुम अपने स्वरूप रूप हो, हम अपने स्वरूपरूप हैं। इसमें मेरा क्या बिगाड़ हुआ और आपका इसमें क्या नुकसान है? सब विविक्त हैं, लेकिन मोह एक ऐसा प्रबल विकार है कि यह अपने आप विचार-विचारकर दुःखी होता है मित्रका वियोग होने पर।

मरणके वियोगमें टोटेमें कौन— भैया! इष्ट, स्त्री, पुत्रादिक किसी का वियोग होने पर खुद सोच लो कि टोटेमें कौन रहा? मरने वाला टोटे में रहा था ये जीने वाले टोटेमें रहे? मरने वाला तो मरकर चला गया, नया शरीर पा गया, नयी बुद्धि होगी, उसको यहांके किन्हीं लोगोंकी खबर न रहेगी। उसे तो यह भी खबर न रहेगी कि मेरा घर कहां है? वह तो मस्त है जिस पर्यायमें पहुंच गया वहीं का हो गया। किन्तु ये जो जिन्दा रह गए वे उसके बारेमें ख्याल कर करके दुःखी हुआ करते हैं। जो जिन्दा रह गए हैं वे उस मर जाने वाले के प्रति सोच-सोच कर रोते रहते हैं।

परके शरणकी असंभवता— इस जगतमें कोई मेरेको सुखी करना

चाहे तो नहीं कर सकता है। केवल एक मेरा आत्मा मेरे लक्ष्यमें रहे तो मैं सुखी हो सकता हूं। यह जीव अपने आपके रागभावमें खुद निमित्त नहीं हो सकता। जैसे सूर्यकान्तमणि खुद रंग बिरंगा बने, उसमें खुद निमित्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस आत्मामें भी जो रागद्वेषोंका बिगाड़ आता है, उसके कारण परद्रव्योंका संग है। परसंग न हो तो बिगाड़ न हो।

बहुसंगके अभावमें आकुलताकी कमी— जिसके एक ही लड़का है उसको ज्यादा आकुलता नहीं है, जिसके दो-चार बच्चे हैं उसको बहुत आकुलताएँ हैं। जिसके कई बच्चे हैं उसके अनेक प्रकारके विचार चलेंगे, अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ बनेंगी। जिसके एक ही पुत्र है उसके अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ नहीं होती हैं, क्योंकि वह जानता है कि मेरे मरणके बाद सब कुछ इसीका तो है, उसको कोई फिकर नहीं होती है और जिसके कई बच्चे हैं उसके यह फिकर रहती है कि यह सब धन इनको बांटना पड़ेगा। संत जन तो इसी लिए निश्चिंत रहते हैं कि वे अकेले हैं। उनका रोजका काम है आत्माकी दृष्टि करना और उसीमें तृप्त बने रहना।

संकटमोचक परमौषधि— भैया ! जितना परसंग बढ़ता है उतना ही बिगाड़ होता है। मगर ज्ञान एक ऐसी अमोघ औषधि है कि घरमें रहते हुए, परिवारके बीचमें रहते हुए भी आकुलता नहीं होती। जब भी विपत्ति आए, अपने आपको केवल चैतन्यप्रकाशमात्र देखे, सबसे न्यारा केवल अपनी स्वरूप सत्तामात्र अपने स्वरूपको निरखे वहां सारा क्लेश तुरन्त दूर होता है। लेकिन ऐसी स्थिति गृहस्थोंकी देर तक नहीं हो सकती है। इस कारण फिर आकुलतामें पड़ जाते हैं पर न रहो देर तक, जितनी देर अपने आत्माके अंतरंगमें प्रकाश मात्र चैतन्यस्वरूपको देखे उतनी देर तो आत्मामें निराकुलता समझमें आए कि अरहंत सिद्ध जिसकी हम पूजा करते हैं वे कैसे आनन्द लूटा करते हैं? हम आपका आनन्द चिरकाल तक नहीं रहता है, प्रभुका आनन्द चिरकाल तक रहता है पर एक झलक तो पाया।

प्रभुके आनन्दकी जातिके आनन्दके अनुभवका एक दृष्टान्त— जैसे एक गरीब पुरुष दो आनेकी ही किसी चौबेकी दुकानसे मिठाई खरीद कर खा लेता है और एक रईस पुरुष तीन पाव मिठाई उसी दुकानसे वही मिठाई खरीदकर छककर खा लेता है तो यद्यपि उस गरीब आदमीने छक कर तो नहीं खाया पर स्वाद तो वही पाया है जो कि उस रईस पुरुषने पाया है। इसी प्रकार यहांके गृहस्थजन अथवा प्रकृत साधु उस आनन्दको

पा सकते हैं जो प्रभुका आनन्द है, जिस आनन्दको प्रभु चिरकाल तक छक कर पाते रहते हैं। केवल अपने आपकी ओर मुड़कर पायेंगे सारका लाभ और बाहरके पदार्थोंकी ओर मुड़कर आकुलता और विडम्बना ही पायेंगे।

नरजन्मका सदुपयोग— यह मनुष्य जन्म पाया है तो यहां सार बात यही है। इसका सदुपयोग करना है, इस मनुष्य जन्मको पाकर इसे व्यर्थ नहीं खोना है। विषयकषाय तो पशुपक्षी भी कर रहे हैं, पेट तो पशु पक्षी भी भर रहे हैं। पेट भरना, विषय-कषाय भोगना, यही एकमात्र उद्देश्य रहा तो मनुष्यदेह पानेसे क्या लाभ रहा ? जैसा आया वैसा ही चला गया। यहांका लाभ यह है कि इस सहज पदार्थके समागमको पुण्य पर छोड़ो, जैसा उदय होगा तैसा प्राप्त होगा। उदयसे अधिक किसीको प्राप्त नहीं होता और धन खर्च कर देने पर भी, दान दे देने पर भी उदयके भीतर जितना खाली हो गया हो, किसी न किसी उपायसे बादमें वह भर जाता है।

पुण्योदयानुसार लोकसमृद्धिका एक दृष्टान्त— जैसे कुवा होता है उस कुवें की झिरसे ज्यादा पानी नहीं निकलता है। जितना पानी भरा रहता है उससे ज्यादा कहांसे आए और उससे निकाल लें तो जहां तक घिरा है वहां तक फिरसे पानी आ गया। उस कुवेंसे जितना चाहे पानी निकाल लो, जितना चाहे मेला वाले उससे पानी निकाल लें, उसे जरा एक आध रातका विश्राम तो मिले, सुबह देखोगे तो वह कुवां लबालब भरा हुआ आपको मिलेगा। इसी प्रकार धन वैभव सम्पदाको ज्यादा जोड़नेमें परिश्रम नहीं करना है, वह तो थोड़ेसे ही परिश्रमसे आता रहता है। उसके आनेका मुख्य कारण है पुण्योदय। यदि उदय अनुकूल हो तो धन सम्पदा स्वयं प्राप्त होगी। उदयकी रक्षाके लिए कर्तव्य है कि हम अच्छे कार्योंमें लगें, शुभोपयोगके कार्योंमें लगें जिससे कोई संक्लेश न हो, पापका परिणाम न हो, पुण्य खत्म न हो जाय, जिस पुण्यसे मनुष्यजन्म पाया है उस पुण्यकी रक्षा करो। यदि उस पुण्यका नाश कर दिया तो दुर्गति होगी।

वस्तुविज्ञानीके बन्धका अभाव— इस जीवमें जो रागभाव आते हैं उनका निमित्त यह जीव स्वयं नहीं है। उसके परपदार्थोंका संग निमित्त है। यह आत्मवस्तुका स्वभाव है कि प्रत्येक जीव अपनी ओरसे ज्ञानरूप बनता है। परपदार्थोंका संग होनेसे यह अज्ञानरूप बन जाया करता है। इस प्रकार जो वस्तुके स्वभावको अपने आपके स्वरूपको ज्ञानीजन जानते

हैं इस कारण ज्ञानी जनोंके पूर्वभवोंके बांधे हुए कर्मोंके उदयसे रागादिक भाव भी आयें तो भी अपने को रागादिकरूप नहीं बनाते। तो वे रागादिकके कर्ता नहीं होते। देखो अपने आप रागद्वेष आयें तो हम मानलें कि ये रागद्वेष मेरे स्वरूप हैं, मेरे सम्बन्धी हैं। किन्तु ऐसा तो है ही नहीं। वे सबसे भिन्न केवल ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको जानते हैं। वे जीव रागादिकके करने वाले नहीं हैं, वे कर्ता नहीं हैं। उनके कर्मोंका बंध नहीं होता। इसी बातको अब और भी स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

रागके कर्तृत्वका कारण— ज्ञानी जीव अपने आप ही अपने आप को रागद्वेष मोहरूप अथवा विषयकषायरूप नहीं करता। इस कारण वह ज्ञानी उन भावोंका कर्ता नहीं है। जो अपनेको मनुष्य मानेगा वह मनुष्यके योग्य काम करेगा, जो अपनेको बच्चोंका बाप मानेगा वह बापके अनुकूल अपना काम करेगा अर्थात् बच्चोंकी चिंता करना, बच्चोंका पालन ये सब कार्य करेगा। जो अपनेको धनवान मानेगा वह जैसे धनवानको काम करना चाहिए वैसे काम करेगा। जो अपने को त्यागी साधु समझे सो त्यागी साधुको जैसा काम करना चाहिए वैसा काम करेगा। जो जीव अपनेको जो मान लेता है उसके अनुकूल ही वह कार्य करता है। जैसे कोई कमेटी है उस कमेटीके आप सदस्य हैं तो आप उस सदस्यके नातेसे उसमें आप काम करते हैं। कमेटीमें जो बात आती है उसके विरोधमें आप कार्य करते हैं। मिट जाय तो मिट जाय इतना तक आप भाव बनाते हैं और मान लो सब लोगोंकी विनती करनेसे आपने मंत्रीपद स्वीकार कर लिया तो अब आपकी मान्यतामें यह आ गया कि मैं मंत्री हूं। तो जिसका अभी तक आप विरोध करते चले आये थे उस कामको ठीक-ठीक आप कर लेंगे। तो यह परिवर्तन अपने आपकी मान्यता लायी। जहां यह मान्यता हुई कि अब मैं इनका अधिकारी हूं तहांसे ही भाव बदल गया।

कर्तृत्वकी शिक्षा मोहमें नैसर्गिकी— एक कुमारी लड़की जिसका अभी विवाह नहीं हुआ है वह पग फटकाये अभी इधर-इधर डोलती है, फिरती है, कोई विकार नहीं है और जहां भांवर पड़ी तहां ही उसकी चाल ढाल सबमें अन्तर आ जाता है। पहिले कैसा अटपट एकदम उठकर भागती थी अब वह गजगामिनीकी चालमें अपने कपड़ोंको समेटकर चलती है। यह फर्क किसने ला दिया? उसकी मान्यताने। १ मिनटमें ही उसकी चालढालको किसने बदल दिया? उसकी मान्यताने। उस लड़की

की मान्यतामें यह आगया कि अब मैं स्त्री हूं। तो उस मान्यताके अनुकूल उसकी सारी बातोंमें अन्तर आ गया।

आत्मत्वकी मान्यतामें आत्मानुसारिता— यह जीव अपनेको जैसा मानता है उसके अनुकूल इसके राग और द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं। और क्यों जी, कोई आदमी अपनेको सिर्फ आत्मा ही आत्मा मानता हो, वह अपने को मनुष्य न मानें किन्तु एक शुद्ध चैतन्य आत्मद्रव्य मानें, जैसे जगत्के सब जीव हैं वैसा ही मेरा स्वरूप है, जो सब हैं वही मैं हूं, जो मैं हूं वही सब हैं, जो मैं हूं वह प्रभु है, जो प्रभु है वह मैं हूं, ऐसी निगाह कब बनती है जब आत्माका जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है वह चैतन्यस्वरूप दृष्टिमें आता है तब यह बात बनती है। तो जब इस जीवने अपनेको एक चैतन्य मान लिया तो चैतन्यके अनुकूल काम करेगा। अपनेको इंसान मानेगा तो इन्सानके योग्य दूसरोंकी सेवा करना, दूसरोंके काम आना, इस प्रकारके सेवाके कार्य करेगा और कोई अपनेको इन्सान भी न माने, इन्सानसे ऊँचा एक अपनेको आत्मा मानें, एक जाननहार पदार्थ मानें तो सब चेष्टावोंको वह समाप्त करके केवल जाननहार देखनहार बनेगा।

सुख दुःखकी कल्पनानुसारिता— भैया! हमें सुख हो अथवा दुःख हो, यह सब हमारी मान्यता पर आधारित है। आपका कोई काम किसी बाहरी जगह पर है, मानो अहमदाबादमें है। किसीने खबर देदी कि आपके व्यापारमें २ लाख रूपयेकी हानि हो गई है। चाहे वह कुछ न हुआ हो, बल्कि दो लाख बढ़ गए हों पर इसने अपनी मान्यता बनाली इसलिए रात दिन दुःखी रहता है। हुआ वहां कुछ नहीं। वहां तो अमन चैन है। खूब अच्छा काम चल रहा है पर इसने अपने उपयोगमें हानि जैसी बात बना ली, लो वहां वह दुःखी हो रहा है और चाहे वहां टोटा ही पड़ गया हो और किसीने झूठमूठ खबर कर दी कि तुम्हारे व्यापारमें दो लाख रुपये की वृद्धि हुई है, लो इतनी बात सुनकर ही वह फूला नहीं समा रहा है। तो सब मान्यताका ही फल है और क्यों जी हानि हो या लाभ हो, सारी स्थितियोंको एक समान मानें, उन बाह्य पदार्थोंकी कैसी भी स्थिति आए, इससे न तो आत्माका कुछ सुधार है और न बिगाड़ है तो ऐसी मान्यता से ही शांति मिलेगी। बाहरमें कितना ही श्रम कर लें पर शांति नहीं मिल सकती है। यदि अपने अन्तरमें ही कोई श्रम करें, जानकारी बनाएँ, अपने आत्मबलको दृढ़ कर लें, अपना ज्ञान सही बनाएँ तो यह उपाय व्यर्थ नहीं जाता। बाह्य पदार्थोंमें श्रम करना तो व्यर्थ है।

परचिन्ताकी व्यर्थता— भैया! तुम किसकी चिंता करते हो?

परिवारमें जितने लोग हैं सबके साथ उदय लगा है। तुम उनका पालन नहीं करते। उनका उदय है, उस उदयके कारण तुम्हारे निमित्तसे उनका पालन होता है। तुम तो निमित्त मात्र हो, तुम तो उन पुण्यवान् जीवोंके सेवक मात्र हो। जिन स्त्री पुत्रोंको आप बैठे-बैठे खिलाते हो और उनको प्रसन्न देखना चाहते हो आप यह बतलावो कि आपके पुण्यका उदय बड़ा है या उनका। उनका पुण्य बड़ा है जिन्हें कोई श्रम नहीं करना है, जिनकी आप बड़ी फिकर करते हो। तो जिनका पुण्य बड़ा है उनकी आप चिंता क्यों करते हो? उनका तो पुण्य ही बड़ा है, उनके पुण्यके अनुसार सब साधन जुटेंगे ही।

मोहमें परके भरणपोषणकी मान्यता— एक कथानक है कि एक गरीब जोशी था जिसका कार्य यहां वहांके घरोंसे थोड़ा-थोड़ा अनाज मांग लाना और १० बजे इकट्ठा करके देना, तब जाकर रोटी बने और खाये। इतना वह गरीब था। एक साधु निकला और बोला—बेटा क्या कर रहे हो? क्या कर रहा हूं, आटा मांगने जा रहा हूं क्योंकि आटा इकट्ठा करके अपने परिवारके लोगोंका पालन करता हूं। तो क्या उनको तुम खिलाते हो? हां हां, जब हम मांग कर धरते हैं तब वे खानेको पाते हैं। साधु बोला कि तू नहीं खिलाता। तू मेरे साथ १५ दिनके लिए चल। वह सरल स्वभावी था सो उस साधुके संगमें चल दिया। साधु ने कह दिया था कि यदि तेरा दिल मेरे संगमें न लगे तो १५ दिनके बाद घर हो आना। सो अब उस दिन १० बजे तक वह न पहुंचा तो घरके लोग दुःखी हो गए। किसी मस्खरेने कह दिया कि उसे तो कोई जानवर उठा ले गया है, वह मर गया है। सारे गांवमें खबर फैल गई। रोवा धोवा मच गया।

पुण्योदयमें पड़ोसियों द्वारा पूछ— थोड़ी देर बाद गांवके लोग सोचते हैं कि इस घरमें ५—७ तो बच्चे हैं और केवल एक रांड स्त्री रह गयी है। तो अब क्या करें? क्या अपन लोग भर पेट खायें और इसके परिवारके लोग भूखे रहें? यह तो हम सबसे कैसे देखा जा सकता है? तो जो अनाज वाले थे उन्होंने पांच सात अनाजके बोरे दे दिए घी वालों ने घी के टीन दे दिए। शकर वालोंने शकर दे दिया, कपड़ा वालोंने कपड़े दे दिए। रोज-रोज कहां देंगे, कमसे कम इतना तो सामान हो जाय कि एक साल तकका काम चल जाय। अब सब सामान आ गया। १०—१२ दिनके भीतर ही उनका रूप बदल गया। बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहिन लिए, पकौड़ी पकवान बनाकर खाने लगे। जब १५ दिन गुजर गए तो वह पुरुष कहता है कि महाराज घर देख आएँ कौन जिन्दा है, कौन मरा है? तो

साधु कहता है कि अच्छा देख आवो, पर घरमें एकदम न घुस जाना छिप कर ही देखना।

मोहमें मौज— सो वह गया घर और पीछेसे चढ़ गया। उसे छिप कर देखनेका स्थान छत मिला। देखता है कि क्या हो रहा है। ये कैसे नये कपड़े पहिने हैं, कैसी कढ़ाही जल रही है? सब खुश हो रहे हैं। कैसा बढ़िया खा रहे हैं, इनका तो भाग्य जग गया। अब तो अच्छा है। ठीक रहा साधुके संग जाना। १५ दिनमें तो इनका सारा ढंग ही बदल गया। सो एकदम खुशीसे वह छतसे कूदा। उन बच्चोंसे प्यारके शब्द बोलता है। यहां क्या होता है कि स्त्री ने बच्चोंने तो सुन ही रखा था कि वह गुजर गया। जब उस शकलसे देखा तो सबको यह निश्चय हुआ कि यह भूत बनकर आया है। सो भूतके भगानेकी भैया क्या प्रक्रिया है? अधजली लकड़ी, कंकड़ पत्थर मारना। सो उन बच्चोंने उसको अधजली लकड़ी तथा कंकड़ पत्थर आदिसे मारकर भगा दिया। वह सोचता है कि क्या हाल है, मैं तो घरमें आया हूं और ये सब मुझे भगा रहे हैं। वहांसे किसी तरहसे जान बचाकर साधु महाराजके पास आया।

निज लाभमें सार— वह जोशी बोला—महाराज घरके लोग ऐसा खुश हैं कि इतना खुश कभी अपने जीवनमें नहीं हुए लेकिन जब मैं घर गया तो घरके सभी लोग अधजली लकड़ी कंकड़ पत्थर आदि लेकर मारने दौड़े। मैं किसी तरहसे जान बचाकर आपके पास आया हूं। साधु बोला कि यह सब स्वार्थका संसार है। जब तक तुमसे उनका कुछ स्वार्थ निकलता था तब तक तुम्हारी पूँछ थी अब जब उनका भाग्य जग गया तो कौन तुम्हारी पूछ करेगा। अब तो तुम्हारा सुख इसीमें है कि मेरे साथमें रहो और अपनी योग्य तपस्या ज्ञान बढ़ाकर अपना जीवन सफल करो।

निजमें परख— तो आप सोचिये कि कौन किसको सुखी करता है और कौन किसको दुःखी करता है। सर्व जीवोंके स्वयं कर्मोंका उदय है, उसके वश आप उनकी सेवा करते हैं। तो ऐसी स्थितिमें भी सच्चा ज्ञान जगावो। क्या आप दूसरोंकी सेवा करते हैं? नहीं करते हैं। आप तो केवल अपना परिणाम बनाते हैं, भाव बनाते हैं। अपने भाव बनाने के अतिरिक्त यह जीव और कुछ करनेमें समर्थ नहीं है और कुछ तो उनके उदयके अनुसार स्वयमेव हो जाता है। ऐसा जानकर समस्त वस्तुओंकी स्वतंत्रता पहिचानो। मेरा दूसरा कुछ नहीं है, मैं दूसरेका कर्ता नहीं हूं। मैं अपने आपका ही अधिकारी हूं, मैं अपने भाव ही बनाता हूं। जैसे भी

बनाऊँ। इससे आगे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। जब यह भाव ज्ञान प्रकाश अपना आत्मा जगाता है तब वहां मोह नहीं रहता है।

भवबासी और प्रभुके अन्तरका कारण— भक्तामरस्तोत्रमें एक काव्य है— "को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषैस्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश ! दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

मुनि मानतुङ्ग स्वामी भगवान आदिनाथकी स्तुति करते हुए कह रहे हैं कि हे नाथ ! यदि तुममें सारे गुण भर गए तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। ठीक है, ऐसा होना ही चाहिए था क्योंकि उन बेचारे गुणोंको इस मनुष्यने अपने में बैठनेके लिए जगह नहीं दी इसलिए वे बेचारे गुण इधर-उधर भटकते रहे। उन इधर उधर भटकते हुए गुणोंको आपने अपने में बैठनेके लिए जगह दे दिया। संतोष, क्षमा सभी गुणोंको तुमने अपने में जगह दे दी क्योंकि इस मनुष्यके पास जब ये सभी गुण पहुंचे तो इसने अपनेमें बैठनेके लिए जगह नहीं दिया, 'नो वैकेन्सी' कहकर मानो उन्हें मना कर दिया। उन बेचारोंको कहीं जगह न मिली तो भगवानके पास आकर उनमें सारे गुण इकट्ठे हो गए। इसमें क्या आश्चर्यकी बात है? इस मनुष्यने दोषोंको जगह दिया है। झूठ, छल, लोभ आदिको अपने में बैठा लिया तो बताओ कोई दोष भी प्रभुके पास फटका। गुणोंको इसने जगह नहीं दिया है इसलिए ये सब गुण भगवानमें चले गए। भैया ! जैसा गुणी भगवान है वैसा ही अपना स्वरूप है, पर अपना स्वरूप न देखनेसे बाहर अपना वैभव देखते हैं इसलिए दुःखी हैं। तो कर्तव्य यह है कि ज्ञान बढ़ायें। ज्ञानसे ही आनन्द और शांति प्राप्त होगी। और सब कुछ पुण्यके उदयपर छोड़ दें।

वस्तुस्वरूपसे विरुद्ध जानकारीकी क्लेशकारणता— जगतके जीवों को जो आकुलता बनी हुई है वह अज्ञानके कारण बनी है। पदार्थ हैं किसी भांति और जानते हैं किसी भांति, इसलिए आकुलता होती है। आकुलता दूर करने के लिए ऋषीसंतोंने सर्वप्रथम यह बात कही है कि हम पदार्थोंको सही-सही जानें तो आकुलता न होगी। जैसे धन, घर वैभव विनाशीक हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं। पर जिस घरमें जो मनुष्य रहते हैं उनका अपने मनमें यह विश्वास है कि यह मेरा धन घर नष्ट न होगा। दूसरेके प्रति तो ख्याल करते कि इन लोगोंके घर वैभव नष्ट होंगे और ऊपरी-ऊपरी अपने लिए भी कह देते हैं कि मेरे धन वैभव भी नष्ट होंगे, पर अन्तरमें श्रद्धा करके यह नहीं सोचते कि ये समागम विनाशीक हैं,

ये नष्ट होंगे। विनाशीक वस्तुवोंको अविनाशी मानना आकुलताका कारण है। क्योंकि हम तो मान रहे हैं कि यह मेरी चीज है, मेरे साथ सदा रहेगी, और वह रहता है नहीं क्योंकि उसका तो जो स्वरूप है, जो प्रकृति है वह तो नहीं बदल सकती है।

स्वामित्वसम्बन्धी विरुद्धविचारका फल आकुलता— अच्छा यह बतलावो कि धन वैभव क्या आपका है? आपका नहीं है। यदि आपका होता तो सदा आपके पास रहता। वह तो आपसे अत्यन्त जुदा है, फिर भी आप मानें कि यह मेरा है तो यही मिथ्याज्ञान है। इस मिथ्याज्ञानसे ही आकुलताएँ होती हैं। चाहे कितनी बड़ी विपत्ति आए, चाहे कितनी ही दरिद्रता या नाना प्रकारके कष्ट हों? यदि वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान है तो वह कष्ट न मालूम होगा। जीवोंने आकुलता मिथ्याज्ञानसे लगा रखी है।

पोजीशनके अहंकारका फल— देखिये भैया! यह जीव अपनेको मानता है कि मैं अमुक पोजीशनका हूं, अमुक देशका हूं, अमुक जातिका हूं—नाना प्रकारका अपनेको मानता है। पर यह तो बतलावो कि क्या मैं ऐसी पोजीशनका हूं? क्या मैं मनुष्य हूं? यह निर्णय पहिले करो। क्या आप मनुष्य हैं? मनुष्य तो हैं नहीं, किन्तु एक चेतन परमात्मतत्त्व हैं। मनुष्य होना तो एक पर्यायकी बात है। यह जीव अनादि कालसे अब तक अनन्त पर्यायें धारण करता चला आया है। यह तो अनेक बार मनुष्य हुआ है, अनेक बार पशु पक्षी हुआ है। यह मैं मनुष्य नहीं हूं। मैं तो एक ज्ञाता द्रष्टा चैतन्य द्रव्य हूं। पर ऐसी सही श्रद्धा न करके उलटा आश्रय कर लिया कि मैं मनुष्य हूं। इसलिए मनुष्यके लायक श्रम करना पड़ेगा। मनुष्यके लायक कल्पना करनी पड़ेगी और कल्पना करके घरमें रहते हुए कोई मनुष्य किसी कारणसे यदि ऐसा मानता है कि मैं तो सबसे न्यारा हूं, मुझे क्या पड़ी है दूसरोंकी? मैं तो सबसे पृथक् स्वतंत्र सत्ता वाला हूं। ऐसा सोचनेसे आकुलताएँ कम हो जाती हैं, और जो जानता है कि मैं इतनी पोजीशन वाला हूं, मैं इतने पुत्रों वाला हूं तो उनको खिलाने पिलाने उनकी रक्षा करनेमें कष्ट करना पड़ता है।

आत्माके यथार्थ ज्ञान बिना शान्ति असंभव— भैया! संसारमें दुःख केवल यही है कि जो जैसा पदार्थ है उसको वैसा नहीं मानते। यह मैं आत्मा कैसा हूं? इसका सहज निर्णय किए बिना मुक्तिका मार्ग न मिलेगा। हम रोज रोज पूजामें विनती पढ़ जाया करते हैं कि हे प्रभु! मुझे मुक्ति चाहिए। हमारा हृदय आपके चरणोंमें तब तक रहे जब तक कि मुझे मुक्ति न मिल जाय। इस तरहसे विनतीमें बोल भी जाते हैं, पर मुक्ति मिलेगी

कैसे, मोक्ष किसे दिलाना है ? पहिले यह तो निर्णय करो। अपना नाम लेकर बोलो—क्या इस नाम वालेको मोक्ष कराना है ? नहीं। यह नाम वाला तो विनाशीक है, माया रूप है, यह असत् पदार्थ है। स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। तो किसका मोक्ष कराना है ? जिसका हमें मोक्ष कराना है उसे जब तक हम न जानें तो फिर किसे मुक्ति दिलाएँ ? जैसे किसीको भोजन कराना है तो जब यही मालूम नहीं है कि किसे भोजन करना है तो किसे भोजन करायें ?

निजकी मुक्ति व उपाय— मुक्ति कराना है इस चैतन्य पदार्थकी। यह मैं आत्मा आकाशवत् निर्लेप प्रतिभास मात्र हूं, इसमें रागद्वेष नहीं हैं, मैं जाननहार केवल हूं। यह मैं आत्मा अपने स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेके कारण परवस्तुओंकी ओर दृष्टि लगाकर अपनेको नाना रूप मानता हूं। और इसी कारण नाना जन्म मरण करने पड़ते हैं। तो मैं अपने आत्मा के वास्तविक रूपको जान जाऊँ कि मैं केवल प्रतिभासमात्र एक स्वतंत्र सत् हूं, जिसका किसी अन्यसे कोई सम्बन्ध नहीं है— ऐसा जान भर जाऊँ तो लो मुक्तिका मार्ग मिलता है। गृहस्थ हो तो क्या, साधु हो तो क्या, आत्माका पूरा पड़ेगा इस यथार्थ ज्ञानसे ही। इन विनश्वर पदार्थोंके समागमसे मेरा हित न होगा। अपने आपके स्वरूपका यथार्थ विश्वास रखें। शुद्ध दृष्टि होनेसे ही अपना हित है। कितने ही संकटमें यह जीव पड़ा हो पर भीतरमें अपनी सही दृष्टि रखे तो वह संकटोंसे शीघ्र ही दूर हो जाता है। कल्याणका मार्ग मिलता है।

हितार्थ करने योग्य काम— भैया ! करने योग्य काम अपने आपके आत्माका सच्चा ज्ञान है। ज्ञानी पुरुष अपने आपको रागद्वेषरूप नहीं मानता। अपने आपके कारण उसमें रागद्वेष नहीं होते। कर्मोंके उदयके निमित्तसे ये राग द्वेष होते हैं। यह मैं हूं ही नहीं तब रागोंसे मुझे राग नहीं रहता है। तो यह राग कब तक पनपता रहेगा जब तक कि घरके कुटुम्बके लोगोंसे प्रीति है। यदि उनसे प्रीति छूट जाय तो राग छूट जायेगा। जिस मित्रसे आपका लगाव नहीं रहा वह कब तक तुम्हारे पीछे पड़ेगा ? इसी प्रकार ये रागादिक भाव जो इस जीवके अज्ञानके कारण कर्मोंका निमित्त पाकर होते चले आए हैं। जब इसमें राग न रहेगा तो यह राग कब तक सतायेगा ? प्रभुका दर्शन तब सफल है जब कि वह मार्ग दिख जाय जिस मार्गसे चलकर यह प्रभु हुआ है। वह वीतराग प्रभु ही सच्चा देव है। पुण्यकी बातें तो दानसे भी हो सकती हैं, दया परोपकार आदिसे हो सकती हैं, पर प्रभुके दर्शनका फल तो मुक्तिका मार्ग दिखाना

है। दर्शन करके यदि कुछ पुण्य कमा लिया तो उससे क्या होगा? दर्शन का लाभ तो मुक्तिका मार्ग मिलना है।

प्रभुका कृतकार्यक्रम— प्रभु ने क्या किया था? सर्व प्रथम अपने स्वरूपका निर्णय किया था। यह मैं आत्मा एक ज्ञानस्वरूप हूं। इस निर्णय के कारण जो उस आत्मामें विषयकषायों के भाव उत्पन्न हुए थे उनसे उपेक्षा हो गयी अर्थात् मोह जीत लिया गया। इस मोहके जीतने के प्रसाद से उनका रागद्वेष मिट गया। रागद्वेष मिटने के कारण उनके केवल ज्ञान हुआ।

उपद्रवोंकी खान राग— रागमें कुछ नहीं रखा है। राग करनेसे तो अपना विकास रुका हुआ है। कैसा ही कोई घरमें प्रिय हो स्त्री अथवा पुत्र, कोई भी जो आपको प्रिय हो, ऐसा प्रिय बनाना आपके लिए संकट है। भले ही प्रेममें अपनेमें संकटका अनुभव न करें पर संकट अवश्य है। यदि किसीसे प्रीति न हो तो फिर कोई कष्ट न होगा। जिससे प्रीति उसके नाश होने पर बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है। फिर विवेककी बात यह नहीं है कि किसी पदार्थमें राग बढ़ाया जाय। राग बढ़ाना ज्ञानीपुरुषका कर्तव्य नहीं है। ज्ञानी जीव अपनेको रागद्वेष मोह रूप नहीं मानता। वह तो अपने सही स्वरूपको जानता है। वह ज्ञानी पुरुष अपने शुद्ध स्वभावसे नहीं चिगता है और जो अपने शुद्ध स्वाभावसे चिगा हुआ रहता है वह परपदार्थोंमें राग करने लगता है। यह जीव रागद्वेष मोह रूप स्वयं नहीं परिणमता और जब स्वयं नहीं परिणमता और ज्ञान हो गया तो दूसरेके द्वारा भी रागरूप नहीं परिणमता।

ज्ञानीकी अविचलितता— भगवान रामचन्द्र जी जब तपस्या कर रहे थे तो उनको सीताजी का प्रतीन्द्र सोलहवें स्वर्गसे आकर रामचन्द्रजी को डिगाने की कोशिश करने लगा कि यह भगवान राम अभी मोक्ष न जायें और फिर दोनों एक साथ मोक्ष जायेंगे। ऐसा करना क्या किसीके हाथकी बात है? डिगानेकी कोशिशकी, बहुत हावभाव दिखाया, बहुत ही चतुरायी दिखानेकी कोशिश की, पर भगवान रामचन्द्र जी अपने शुद्ध ब्रह्म की दृष्टिसे विचलित न हुए। फिर ऐसा रूपक दिखाया कि सीता जी के केशोंको पकड़कर रावण खींच रहा है ताकि रामचन्द्र जी अपने ज्ञानसे चिग जायें पर नहीं चिगे। जो ज्ञानी जीव हैं वे अपने शुद्ध स्वभावसे स्वयं नहीं चिगते और दूसरोंके द्वारा भी रागादिक रूप नहीं परिणमते।

अज्ञानमें आकुलताकी कारणता— यह ज्ञानी टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञानस्वभाव वाला है। वह रागद्वेष मोह भावोंका कर्ता नहीं है।

हम अपनेको इस दुनियाका मालिक मानते हैं। और कर्ता मानते हैं ये दो भूल इस अज्ञानी जीवमें पड़ी हुई हैं। अरे तुम किसके मालिक हो ? किसी परवस्तु पर तुम्हारा अधिकार भी है क्या ? जिस पदार्थको तुम अपना मानते हो वह पदार्थ तुम्हारी इच्छाके अनुकूल परिणमेगा क्या ? नहीं परिणम सकता है। कोई किसी परका अधिकारी नहीं है, मालिक नहीं है। फिर भी यह मानना कि मैं अमुक पदार्थका मालिक हूं, बस यही खोटा ज्ञान है। यह किसी परका करने वाला नहीं है, फिर भी अपनेको परका कर्ता मानता है, यह मान्यता तो आकुलतावोंकी ही मूलक है।

स्वाध्यायविधि— इस जीवको संसारकी आकुलतावोंसे बचानेमें समर्थ सम्यग्ज्ञान है। अनेक यत्न करके इस सम्यग्ज्ञानकी उपासना करो। स्वाध्याय करके उपासना करो, पर स्वाध्याय होना चाहिए विवेकपूर्वक। जो ग्रन्थ अपनी समझमें आयें उन ग्रन्थोंका स्वाध्याय करो। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय करो उसका ही स्वाध्याय करो जब तक कि ग्रन्थ पूर्ण न हो जाय। आज कोई ग्रन्थ उठा लिया, कल कोई ग्रन्थ उठा लिया, यह ज्ञान-वृद्धिका तरीका नहीं है। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय शुरू करो उसीका स्वाध्याय अंत तक कर लो। उसके बाद कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि वही ग्रन्थ दुबारा फिर पढ़लो। एक बार पढ़ लेनेके बाद दुबारा पढ़नेसे सभी बातें स्पष्ट समझमें आती रहती हैं। स्वाध्याय करनेके साथ ही दो नोट बुक रखनी चाहिएँ। एक नोट बुकमें जहां जो समझमें न आया उसे नोट कर लिया और एक नोटबुकमें जो बात बहुत ही आत्माको छूती है, जिससे शांति और संतोष मिलता है उस बातको नोट कर लिया। इस तरहसे शुरूसे अंत तक उसी ग्रन्थका स्वाध्याय कर लेने से ज्ञानमें वृद्धि होती है।

शान्तिका उपाय सम्यग्ज्ञान— शांति संतोष मिलनेका उपाय है सम्यग्ज्ञान। अच्छा यह बतलावो कि धन वैभवसे क्या शांति आ सकती है ? नहीं आ सकती है। यदि धन वैभव वाले लोग भी शांति प्राप्त करते हैं तो समझिये कि अपने ज्ञान बलसे ही वे शांति और संतोष प्राप्त करते हैं, धन वैभवसे शांति और संतोष नहीं प्राप्त करते हैं। यदि धन वैभवसे शांति होती तो त्याग किसलिए किया जाता है ? बड़े-बड़े तीर्थंकरोंने ६-६ खण्डकी विभूतिमें लात मार कर किसलिए वीतराग निर्विकल्प अवस्थाको धारण किया ? स्वतंत्रताके अनुभवमें जो आनन्द है वह परतंत्रताके अनुभवमें नहीं है। ज्ञानीपुरुष अपने को स्वतंत्र निरखते हैं। यह मैं एक ज्ञानमात्र हूं, अपने आपके ही भावोंका मैं भोक्ता हूं— ऐसा वस्तुके स्वभावका

जानने वाला ज्ञानी पुरुष आकुलित नहीं होता है।

वस्तुविज्ञानपर भवितव्यकी निर्भरता-- जिन्हें वस्तुके स्वरूपकी खबर नहीं है वे अज्ञानीजन वस्तुके स्वभावको नहीं जान पाते हैं। इस कारण अपनेको नानारूप बना डालते हैं और जब अपनेको नानारूप बनाते हैं तो आकुलित होते हैं। ऐसा जानकर हम जो भी कार्य करें, पूजा, ध्यान, सत्संग, गुरूपासना, दया, दान इन सब क्रियावोंके बीचमें हम यह सही ज्ञान रखें कि इसमें केवल मैं अपने भाव ही कर पाता हूं, अन्य बातें मैं नहीं कर सकता। ऐसा शुद्ध ज्ञान रहेगा तो रागद्वेष न सतायेंगे और परको अपनानेका भाव रहेगा तो रागद्वेष सतायेंगे। दूसरी बात यह है कि गृहस्थोंको तीन पुरुषार्थोंका काम पड़ता है—धर्म करना, धन कमाना, सबका पालन पोषण करना। तो साथमें यह भी ध्यान रखें कि पालन पोषण उनका हम नहीं करते। उनका जैसा उदय है उस उदयके अनुकूल उनका पालन होता है। इसलिए अपने चित्तमें ऐसा भार न महसूस करना कि मेरे घरमें इतने पुरूष, स्त्री, बालक बालिकाएँ हैं, इन सबका भार मुझ पर है। अरे उनका भार तुम पर नहीं है। उनका भी उनके अनुकूल उदय है। इस कारण तू निमित्त बनता है उनके पालन पोषण में। इस कारण इस भारको दूर करना, अपने को निर्भार अनुभव करना और कर्तव्य करना।

सबका उदय-- धन कमाना क्या हाथ पैरोंके श्रमका फल है या कोई दिमागका काम है? धन तो पुण्योदयसे थोड़ेसे ही श्रमसे अपनेको प्राप्त होता है। यदि उदय अनुकूल नहीं है तो कितना ही श्रम करते जावो धन प्राप्त नहीं होता है। कोई स्त्री दूसरेके आभूषण तथा वस्त्र वगैरह नहीं देख पाती, कोई दूसरेका ठलुवा नहीं देख सकती है। मैं यह करती हूं, यह नहीं करती है, इस तरहसे परस्परमें अनबन भी हो जाती है। किन्तु सोचो तो जरा—क्या ये समागम सदा रहेंगे? क्या दूसरेका भाग्य हम खरीद सकते हैं? क्या हम दूसरेको परेशान कर सकते हैं? क्या हम दूसरेको सुखी दुःखी कर सकते हैं? उदय है दूसरोंका तो चलता है। तो जिसका जैसा उदय हो उसके अनुसार चलता है चलने दो। हम उसके साधक नहीं होते, बाधक नहीं होते।

स्वात्मचिन्ता— भैया! हम अपनी फिकर करें, दूसरोंकी क्या फिकर करें? इन कर्मोंके बंधनमें फँसा हुआ हूं। इस कारण मैं स्वयं दुर्गति का पात्र हूं। दूसरों पर क्यों दृष्टि देते हो? खुद तो गड्ढेमें पड़े हुए हैं, अज्ञानमें बसे हैं, परिणामोंमें शुद्धता नहीं आती, खुद तो ऐसी विकट

परिस्थितिमें हैं और दूसरेको नाना प्रकारके दोषोंसे युक्त देख रहे हैं, दूसरोंके ऐब निकाल रहे हैं, दूसरों से ईर्ष्या कर रहे हैं--इन बातोंसे क्या मिलेगा अपनेको? अपने आपकी संभाल करें तो उस संभालमें अपना भी भला है और दूसरोंका भी भला है। पर परकी दृष्टिमें न अपना भला हो पाता, न किसी परका भला हो पाता। सो समता परिणाम करिये। जितनी अपनी शक्ति हो, जितना अपना ध्यान बन सके उतनी समता रखिए।

परचिन्ताकी व्यर्थता-- भैया! किसी पर रागद्वेष करने से दूसरे का कुछ न बन गया, न बिगड़ गया किन्तु खुदका बिगाड़ हो गया। इस लिए रागद्वेषोंपर विजय हो, विषय कषाय न सता सकें, किसी दूसरेका विरोध रखनेका परिणाम न बने तो यह प्रवृत्ति अपने आपके कल्याणकी साधक होगी और अपने आपकी संभाल न कर सके तो बाह्यपदार्थोंका कुछ भी ख्याल बनाए रहें उससे उत्थान न होगा। ज्ञानके समान इस जगत में सुखका कारण दूसरा कुछ नहीं है क्योंकि आनन्दका सम्बन्ध ज्ञानके साथ है, धनके साथ आनन्दका सम्बन्ध नहीं है। जैसा ज्ञान होगा वैसा ही आनन्द भी प्राप्त होगा। हम जरा-जरा सी बातोंमें दुःखी हो जाते हैं। उस दुःखको करने वाला कोई दूसरा नहीं है। मैं ही अपने ज्ञानसे इस जातिकी कल्पनाएँ बना डालता हूं कि ज्ञानमें से दुःखके अंगारे फूटा करते हैं। दूसरेको कोई दुःखी नहीं करता। मैं ही अपने ज्ञानसे ऐसी कल्पनाएँ बनाता हूं कि दुःखी होता रहता हूं। अपने ज्ञानकी संभाल हो जाय तो दुःख नहीं हो सकता है।

ज्ञानकी संभाल-- भैया! ज्ञानकी संभाल यही है कि जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा मानें। धन वैभव विनाशीक हैं, विनाशीक मानें। धन वैभव मेरा नहीं है तो उसे अपनेसे भिन्न ही जानें। रागद्वेष मोहका परिणाम मेरी बरबादीके लिए ही उत्पन्न होता है, ऐसा जानकर उस रागद्वेष मोहसे उपेक्षा करें। मेरे लिए शरण मात्र मैं ही हूं-- ऐसा जानकर मात्र अपने शुद्धस्वरूपका शरण ग्रहण करें। ये बाह्यसमागम तो क्लेश ही उत्पन्न करनेके कारण हैं, ऐसा जानकर इन सबसे अपनी लगन हटाएँ। जैसा अपना स्वरूप है वैसा ही अपनेमें ज्ञान जगे तो आनन्द हो सकता है। धन वैभवकी रंच परवाह न करें कि मेरे पास धन वैभव कम है। इस से भी धन वैभव कम हो तो भी बहुत है। इस सम्पत्तिसे हित नहीं है। हित तो अपने सम्यग्ज्ञानके परिणामसे है। चिंताकी क्या बात है? खुदका प्रभु खुदकी निगाहमें यदि है तो वहां फिक्रकी कोई बात नहीं है। अपने

ज्ञानकी संभाल नहीं है तो जगह-जगह विपत्तियां ही मिलती हैं। इस कारण अनेक प्रयत्न करके एक अपने आत्माका यथार्थ निर्णय करें।

रायम्हि दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥२८१॥

भावीबन्धनकर्ता रागाशय— यह जीव कर्मोंको कैसे बांधता है और अपने रागादिक विभावोंको कैसे करता? इसका वर्णन इस गाथामें है। इस जीवने पहिले रागद्वेष मोह करके जो कर्म बांधे थे वे कर्म जब उदयमें आते हैं तो उनके उदयका निमित्त मात्र पाकर यह जीव अपने परिणमनसे रागादिकरूप परिणम जाता है, क्यों परिणम जाता है कि इस जीवको वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपकी खबर नहीं है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपना चतुष्टय लिए हुए है। एक आत्मा अपने ही प्रदेशमें रहता है, अपने ही गुणोंमें तन्मय है, अपनी ही परिणतिसे परिणमता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपसे है, पर इसकी याद नहीं रखते और उल्टा धारणा बना लेते हैं कि मैं घरमें हूं, इस लोकमें रहता हूं, यह ही मेरा धन वैभव है। इससे ही मेरा सुधार है। इस तरहसे यह जीव परकी ओर उन्मुख होता है और परकी उन्मुखताके कारण मैं रागरूप हूं, इस प्रकार अभेदभावसे अपनेको रागादिक रूप मान करके जो परिणमन होता वह फिर भी भावी कालमें जो रागादिक परिणामोंको उत्पन्न कर सके ऐसे द्रव्यकर्मको बांधता है। जैसे यहां कोई पुरुष मैं पुत्र वाला हूं ऐसा अभेदरूप भाव करता है तो वह ऐसा राग प्रकट करता है जो राग आगामी कालमें भी राग उत्पन्न करनेका कारण है।

असंस्कृत रागका उदाहरण— जैसे सफरमें जा रहे हैं, अपना भी सामान अपने पास है और दूसरा मुसाफिर भी वहां बैठा है डिब्बेमें, उस का भी सामान वहीं रखा है पर इसे अपने ट्रङ्कमें आत्मीयता है, इस आत्मीयताके कारण वह ऐसा राग करता है कि आगामी कालमें भी तत्सम्बन्धी राग रहेगा और कदाचित् कोई मुसाफिर थोड़ी बात करके आपकी निगरानीमें अपना सामान छोड़ जाय और वह प्लेटफार्म पर पानी पीने चला जाय उसकी टोंटी देखनेका राग है या नहीं है? कोई उसमें हाथ लगाये तो वह कहेगा कि भाई इसे न छुवो, यह दूसरेका सामान है। राग थोड़ा जरूर है, पर वह राग भावी कालमें आगामी समय में रागको पैदा करे ऐसा राग नहीं है। थोड़ी देरके लिए है। जब वह मुसाफिर आ गया तो उसमें रंच भी रागका संस्कार नहीं रहता।

ज्ञानीका असंस्कृत राग— इसी तरह जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसको

जो विषयभोगोंके साधन मिले हैं उनमें इसका राग तो है पर ऐसा राग नहीं है जो आगामी समयके लिए भी राग बांधे। उसकी यह बुद्धि नहीं होती कि मैं ऐसा ही भोग जीवन भर भोगता रहूं। वह तो यह चाहता है कि कब वह समय आए कि इस भावी विपत्तिसे छूट जाऊँ ? किन्तु अज्ञानी जीवको इस प्रकारका राग है कि उस चीजको वर्तमानमें भी नहीं छोड़ सकता और आगामी समयके लिए भी राग बांधेगा।

अन्तरङ्गमें वैराग्य होनेपर भी बाह्यमें रागप्रवृत्ति— जैसे एक कोई धनिक रोगी हो गया, डाक्टर इलाज करता है, वह दवाई बड़े प्रेमसे पीता है। उस रोगीको औषधिमें राग है या नहीं है ? राग है। यदि दवा समय पर न मिले तो वह झुँझला जाता है। तो उसे दवासे प्रेम है या नहीं ? है। डाक्टरसे प्रेमपूर्वक दवा खानेके लिए पूछ रहा है। कब कब दवा खायी जायेगी, किस-किस चीजमें मिलाकर खायी जायेगी ? बड़े प्रेमसे पूछ रहा है, पर साथ ही साथ यह भी पूछता जा रहा है कि यह दवा कब तक खानी पड़ेगी। उसके वर्तमान भावोंमें दो प्रकारकी बातें पड़ी हुई हैं। दवा पीनेका राग भी पड़ा हुआ है और यह दवा कब छूटे, ऐसा मनमें भाव भी पड़ा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानीजीव विषयभोगोंमें पड़ा हुआ है फिर भी वह उनसे छूटा हुआ है। उनमें जुटना उसका क्षणमात्रके लिए है। वह अन्तरमें यह भावना रखता है कि ये विषय भोग कब छूटें ? किन्तु अज्ञानी जीव रागरूप परिणमता है, वह जानता है कि मैं रागरूप हूं इस कारण वह ऐसे कर्मोंको बांधता है कि आगामी कालमें भी उसे राग करना होगा। यह परम्परा जन्म मरणमें ले जाने वाली होती है।

हित और अहितकी एक एक बात— भैया ! हित और अहितकी ये ही दो बातें हैं और अधिक नहीं जानना है। अहितकी बात यह है कि जिस पर्यायरूप हूं, जिस परिणमनमें चल रहा हूं, मैं यह ही हूं, इससे परे और कुछ नहीं हूं, यह श्रद्धा होती है तो पर्यायमें रहना पड़ता है और जिसमें यह प्रत्यय है कि मैं न मनुष्य हूं, न रागद्वेषादि परिणाम हूं, किन्तु मैं एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूं, ऐसा जिसके भाव रहता है वह पुरुष अपने आत्माको पाता है और मोक्षमार्गमें लगता है। भीतरके इतनेसे निर्णयमें संसार और मोक्षका फैसला है। भीतरमें अपने आत्मस्वरूपको तजकर जहां यह माना कि मैं अमुक-अमुक हूं, बस फैसला हो चुका। संसारमें जन्म मरण करना होगा और जिसने इस समय उपासनासे भिन्न ज्ञानमय अपने आपका मान किया है बस फैसला हो चुका, उसका मोक्ष जरूर होगा। जो चीज छूट जाने वाली है उस चीजसे प्रीति नहीं तजी जा रही

है यही तो बड़ी मलिनता है।

आत्मस्पर्शमें सगुनपना— सभी भाइयोंको जो-जो कुछ मिला है वे सभी चीजें कभी न कभी बिछुड़ जायेंगी। क्यों जी यह बात सही है ना। सही है। असगुनकी बात नहीं कह रहे हैं। आप लोग मानेंगे कि यह असगुनकी बात कह रहे हैं कि जो चीजें मिली हैं, वे कभी न कभी बिछुड़ जायेंगी। यह सगुनकी बात कह रहे हैं। सगुन वह कहलाता है जिस बातके बोलनेसे अपने आत्माका पता पड़े। जिस चीजके देखनेसे अपने आत्माका पता पड़े उसका नाम सगुन है और जिसके निरखनेसे अपना पता न पड़े और अज्ञान अंधकारमें उलझे रहें उसका नाम असगुन है। कभी सुना होगा कि गलीमें से कोई मुर्दा जाता हुआ दिख जाय तो उसे सगुन मानते हैं या असगुनी उस मुर्देका दिख जाना सगुन है। वह कार्य सिद्धिका सूचक है। तो उसे सगुन क्यों माना ? क्या बात उसमें है जो वह सगुन बन जाता है ? उसके सगुन बननेका कारण यह है कि उसको देख कर एक बार तो मनमें परिणाम आयेगा ही कि संसार असार है। यों ही मर जाना पड़ता है, यहां कोई तत्त्व नहीं है। सब कुछ छोड़ जाना होगा और इन भावनावोंके साथ अपने आत्मकल्याणका भी क्षण भरको पता होता है वह मुर्दा आत्माकी याद दिलाता है इसलिए सगुन है।

स्वभावदृष्टिमें समृद्धि— यहां सगुनकी बात कह रहे हैं कि जगत्में जो कुछ समागम मिले हैं वे सब कभी न कभी बिछुड़ जायेंगे। यह हंस आत्मा अकेला यहांसे जायेगा। आगे अकेला जायेगा इतना ही नहीं किन्तु वर्तमानमें भी यह आत्मा केवल अकेला ही है। इस अकेले अपने आपके स्वरूपको देखो और भी ज्यादा अकेला अपने आपके स्वरूपको देखो। ऐसा अकेला देखो कि मुझमें न कर्मोंका सम्बन्ध है, न शरीरका सम्बन्ध है, न रागादिक मलिनतावोंका भाव है, मुझमें तो एक ज्ञायक स्वभाव है, ऐसे ज्ञायकस्वभावमात्र अपने आपका यदि निर्णय करो तो संसारके संकटों से छूट सकते हो। १०–२० वर्ष तक घर, धन वैभवसे राग किया। अंत तक तो निभेगा नहीं, यदि कोई इस जीवनमें ही कुछ समय रागसे दूर रह सके तो भला है और रागसे दूर न भी रह सके तो कमसे कम गल्ती तो अपनी मानता रहे कि मैं जो राग कर रहा हूं, यह मेरी त्रुटि है। तो भी वह शांतिके मार्गमें लगा हुआ है।

अन्तरंगका निर्णय— यहां बात कही जा रही है सही अपने कल्याणकी बात। जिस जीवकी पाप कार्योंमें प्रवृत्ति हो रही हो और उस में मन लगाये हो और कहे कि मैं गलती मानता हूं कि यह पाप कर रहा

हूं मेरी गल्ती है, उसका कहना झूठ है। भीतरमें किसी व्यवस्थाके कारण पाप करना पड़ रहा हो और अन्तरमें ग्लानि हो तो उसे यह कहनेका अधिकार है कि मैं गल्ती कर रहा हूं, पर जो प्रसन्नताके साथ मनको एकदम बेलगाम छोड़कर पाप कार्योंमें लगाता हो और चूँकि ग्रन्थोंमें सुन रखा है कि चारित्रमोहनीयका उदय होता है सो उसका बहाना लेकर वह दुनियाको अपनी सज्जनता दिखाये तो वह डबल पाप करता है। यह फैसला तो अपना आत्मा ही जान सकता है, दूसरा दूसरेके हृदयकी बात को नहीं जान सकता है। या जो भगवान सर्वज्ञ हैं, वह उसकी पर्यायको जानता है या जो विशिष्ट अवधिज्ञानी जीव हैं वे अवधि ज्ञानसे कर्मोंकी क्षयोपशमिक अवस्थाको निरख कर अनुमानसे जानते हैं कि इसका परिणाम शुद्ध है।

पर्यायबुद्धि— इस जीवकी सबसे बड़ी गलती यही है कि जिस अवस्थामें यह होता है उस अवस्थारूप ही यह अपनेको मानने लगता है। सबसे बड़ी गल्ती है यह कि यह जीव वस्तुके स्वभावको नहीं जानता, वह अज्ञानी होता हुआ अपने शुद्ध स्वभावसे च्युत बना हुआ है। कबसे ? जब से यह संसार चला आ रहा है। अनादिकालसे यह जीव वस्तुके स्वरूपकी पहिचान न करके अज्ञानी होकर अपने ज्ञायकस्वभावके उपयोगसे हीन हो रहा है। जब कर्मोंके उदयसे उत्पन्न हुए रागद्वेष मोहादिक भावोंके द्वारा परिणमता हुआ यह अज्ञानी जीव रागद्वेष मोह आदिक भावोंका कर्ता होता है और फिर भी कर्मोंको बांध लेता है।

बंधके दो कारण— बंधके दो ही कारण हैं, परको आपा मानना, परको अपना मानना अर्थात् अहंबुद्धि और ममबुद्धि। मैं शरीर हूं, ऐसा मानना अज्ञान है और शरीर मेरा है ऐसा मानना भी अज्ञान है। पर बहुत अधिक अज्ञान इन दोनोंमें से क्या है बता सकते हो ? शरीर मैं हूं ऐसा मानना बहुत बड़ा अज्ञान है या शरीर मेरा है ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है ? शरीर मैं हूं ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है। शरीर मेरा है, यह मानना दूसरे दर्जेका अज्ञान है। अच्छा बतलावो मकान मैं हूं, ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है या मकान मेरा है ऐसा मानना बड़ा अज्ञान है ? कोई जरा बोलकर देखे कि यह मकान मैं हूं ऐसा कोई कहे तो आप उसे बेवकूफ समझेंगे कि नहीं और मकान मेरा है ऐसा कोई कहे तो उसे बेवकूफ न कहेंगे। अज्ञान दोनों हैं क्योंकि मकान मेरा नहीं है, छोड़कर जाना होगा। फिर भी कह रहे हैं इसलिए अज्ञान तो है पर मकानरूप परपदार्थ यह मैं हूं ऐसा मानना बहुत बड़ा अज्ञान है।

शरीरमें अज्ञानभाव— शरीर मेरा है, ऐसा मानना भी अज्ञान है पर इसमें इतना तो ख्याल रहा कि मैं और कुछ हूं और शरीर मेरा है इतना ध्यान तो रहा, पर शरीर मैं हूं ऐसा माननेमें अपने आपका तो ध्यान ही कुछ न रहा। यह अमूर्त ज्ञानमय आत्मा हमारा है ऐसा उसे रंच बोध नहीं रहा। तो यह मोह मिथ्यात्व है, अज्ञान है। यह जीव रागादिक रूप परिणमता है, अपने को रागादिक रूप मानता है। घरमें देवरानी, जेठानी अथवा सास बहूमें लड़ाई हो जाया करती है। उनके मूलमें क्या दोष छिपा है कि वे मानती हैं कि मैं सास हूं, मैं जेठानी हूं, ऐसी बुद्धि उनमें घुसी है तब जाकर विवाद हुआ और यदि वे यह मानें कि मैं सास नहीं हूं, मैं जेठानी नहीं हूं, मैं तो एक आत्मा हूं जो संसारमें आज तक रुलता फिर रहा हूं, इस पर्यायमें, तो देखो उनके विवादमें कमी आ जायेगी या न आ जायेगी।

राग व मोहमें अन्तर— तो अपने को पररूप मानने का परिणाम महान् मिथ्यात्व है और यह भी मिथ्यात्व भाव है कि अपनेको शुद्ध आत्मा न जान सकें और ये रागादिक मेरे हैं ऐसा सम्बन्ध बनाकर परिणमें तो यह नवीन द्रव्य कर्मोंको बांधता है। मोह और राग दो चीजें होती हैं लेकिन जल्दी-जल्दीमें लोग ऐसा कह बैठते हैं कि उसीका नाम राग है और उसीका नाम मोह है। राग और मोहको लोग एक ही बात समझते हैं। उसने मुझसे राग किया, उसने मुझसे मोह किया, इस तरहसे राग और मोहको एक ही समझते हैं पर इन दोनोंमें कितना बड़ा अन्तर है? मोह तो अज्ञानी जीवके ही पाया जा सकता है और राग कभी ज्ञानीजीव के भी होता है। अज्ञानीके राग तो होता ही है। राग और मोहमें इतना महान् अन्तर है। जैसे आप लोगोंसे हम प्रीतिपूर्वक बातें भी करते हैं, राग भी करते हैं, राग न होता तो हम यहां क्यों ठहरते? जानेका प्रोग्राम था इतना ठहर गये तो इसमें राग ही कारण है। हम आप लोगोंको सुनाते हैं इसमें राग कारण है ना। पर यह बतलावो हममें राग ही है या तुम सबसे मोह भी है? मोह नहीं है। सिर्फ राग है।

मोह बिना राग— दूसरी बात तुम्हारा हम पर राग है। राग न होता तो कैसे हमें और रुकनेके लिए कहते? तुम लोग हमारे चले जानेसे कुछ कष्ट सा मानते और रुक जाने से कुछ हर्ष सा अनुभव करते हो। तो तुम्हारा सबका हम पर राग है, मोह नहीं है। अच्छा बतलावो तुम सब लोगोंका हम पर मोह है क्या? नहीं है मोह हां राग अवश्य है। हां ये हमारे साधु हैं, क्षुल्लक हैं, त्यागी हैं, इस प्रकारका राग तुम सबके पहा

हुआ है, पर ऐसा मोह नहीं है जैसा कि अपने घरके बच्चोंसे मोह करते हो। जैसा मोह आपका अपने घरके बच्चोंके साथ पड़ा हुआ है ऐसा मोह हमारे साथ आप सब लोगोंका नहीं है।

राग और मोहके अन्तरका एक उदाहरण— राग और मोहका अन्तर देखो कि हिरण जंगलमें घास खाता है और जरासी पत्तोंकी खड़-खड़ाहट सुनाई पड़े तो तुरन्त चौकन्ना होकर खड़ा हो जाता है और भैया बिलाव का भोजन क्या है? चूहे आदिक। उस बिलावने अगर किसी चूहेको पकड़ लिया है तो उसके सामने चाहे दूध रखा हो पर उस दूधको वह नहीं छूता है। जब उस बिलावने चूहेको पकड़ लिया तो आप चाहे उसे डंडोंसे मारें फिर भी वह उसे नहीं छोड़ता है। इतना अधिक उससे मोह हो जाता है। यह है मोह और रागमें अन्तर। मोह घनिष्ट होता है पर राग इतना घनिष्ट नहीं होता है। तो यह जीव अपनेको रागरूप मानता है और इसी कारण फिर भी कर्मोंसे बँधता है, इसी कारण जो बँधना न चाहें वे राग और मोहको त्याग दें।

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मम्हि चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायादी बंधदे चेदा ॥२८२॥

अज्ञानमय परिणाम— जो जीव अज्ञानी हैं, शरीरसे भिन्न अपने आपका जिन्हें पता नहीं है उन पुरुषोंके कर्मोंके उदयके कारण रागद्वेष मोह के परिणाम होते हैं। वे रागद्वेष मोहके परिणाम फिर पुद्गल कर्मके बंध के कारण होते हैं। पुद्गलकर्म फिर आगामीकालमें रागद्वेष मोह पैदा करनेके निमित्त होते हैं। जीवमें गलती यह है कि वह रागद्वेष मोह परिणाम करता है। रागद्वेष न करना ही धर्म है। रागद्वेष ही अधर्म है। राग-द्वेष न हों और एक ज्ञानका अपना ख्याल हो तो वही धर्म है। अपने धर्म की मनुष्य बहुत कम फिक्र रखते हैं और घर गृहस्थी मोह ममता रागद्वेष इनका बड़ा ध्यान रखते हैं, अपने आपके इस आत्माका वे ध्यान नहीं रखते। सो जितने ये परिणाम हैं अज्ञानी जीवके ये सब दुःखोंके देने वाले हैं।

अज्ञानभावसे ही दुःखरूपता— इन जीवोंको दुःख और किस चीज का है सो बतलावो? दुःख है तो रागद्वेष मोहका है। अब दूसरे जीवसे लेना देना कुछ है नहीं, सब अपने अपने स्वरूपसे हैं। किसीसे कुछ सम्बन्ध तो है नहीं। मगर मोह परिणाम ऐसा लगा है कि ये दूसरेके पीछे अपने प्राण दे रहे हैं। मोह ही इस जीवको एक महान् दुःख देता है। इस आत्मा का ऐसा स्वभाव है जैसा भगवान्का है। पर मेरा यह वैभव दबा हुआ है

और प्रभुका यह वैभव प्रकट हो गया है। पर मुझमें ऐसी शक्ति है जैसे प्रभु परमात्मा बन गए हैं। तो प्रभुका और अपना एक स्वभाव है, पर थोड़ा विवेक कर रागद्वेष मोह हटाएँ। तो जो प्रभुको प्राप्त हुआ है वही हमें प्राप्त हो सकता है। प्रभुकी भक्तिमें जो गुण है वह गुण जीवके अन्य प्रकार आ नहीं सकता व्यवहारमें। व्यवहारमें हमारा दूसरे जीवोंसे सम्बन्ध लग रहा है, पर घर परिवार मित्रजन इनके सम्बन्धसे आत्माको क्या प्राप्त होगा?

प्रभुके शरणका प्रसाद— प्रभुकी शरण गहें तो पुण्य प्राप्त हो और धर्मका मार्ग सूझे तो कल्याण हो। तो प्रभुभक्तिमें बड़े बड़े दुःखी जीवोंने अपने संकट दूर किये हैं। जब मनुष्य पर कोई आपत्ति आती है, दरिद्रता आती है तो वह अपनी इस परिस्थितिमें दुःख मानता है। दुःख तो यह है कि ज्ञान नहीं बनाते। ज्ञान उत्पन्न हो बस यही आनन्दका उपाय है। ज्ञान बढ़ाओ तो ज्ञानसे अपने आपमें बड़ा संतोष मिलेगा। ज्ञान बिना यह जीवन बेकार है। गरीब भी हो कोई और उसका ज्ञान पुष्ट है तो अपने ज्ञानके बलसे वह सुखी रह सकता है और धनी भी हो और ज्ञान सही नहीं है तो धनसे कहीं उसे सुख न मिल जायेगा। सुखका देने वाला तो ज्ञान है। उस ज्ञानकी संभाल करो और सुखी होवो। ज्ञान इतना ही करना है कि आत्मा समस्त जगत्के वैभवसे न्यारा है। मुझमें मेरा ही सत्त्व है। मेरे से बाहर मेरी कोई चीज नहीं है। उदयके अनुसार जो प्राप्त होता है उसमें संतोष करना। उससे अधिक की वासना न रखना, सो आत्माका सम्यग्ज्ञान है व यही प्रभुका सच्चा शरण गहना है।

इच्छानिरोधमें कल्याणका दर्शन— भैया! इच्छा करनेसे मिलता क्या है? बड़े बड़े तीर्थंकर चक्रवर्ती भी धन वैभवमें लीन नहीं हुए। वाञ्छा वहां पूर्ण होती है जहां वाञ्छा नहीं रहती। इच्छाके रहते हुए हम चाहें कि हमारा कल्याण हो तो नहीं हो सकता है। इच्छाको मेटो और अपने पुण्यके अनुसार न्याय नीतिसे कमानेसे जो कुछ भी मिले उसमें संतोष करो, उसीमें अपना जीवन चलाओ और धर्म करना मत भूलो। यदि अपने खर्चमें १० रुपये उठते हैं तो धर्मके लिए भी २ रुपये खर्च करो। जिनकी हजारों लाखोंकी कमायी है वे हजारोंका दान करें।

दयायज्ञ— एक कथानकमें कहते हैं कि एक मनुष्य कहीं जा रहा था। रास्तेमें उसे एक भूखी कुतिया मिली जिसने बच्चे पैदा किये थे बड़ी भूखी थी। कुतियाको उस मनुष्यने जो भी चार छः रोटियां थीं खिला दीं दिन वह उपवास करके रह गया। उस पुरुषने अपने जीवनमें

बहुतसे यज्ञ भी किए थे। एक बार जब वह बहुत गरीब हो गया तो उसने सोचा कि अब हम अपना एक यज्ञ राजाको बेच आएँ तो कुछ गुजारा चलेगा। सो राजाके पास यज्ञ बेचने गया। वह राजा कहता है कि कौन कौन तुमने यज्ञ किए हैं सो बतावो। उसने अनेक यज्ञ बताये। एक जानकार मंत्री बैठा था तो उसने कहा कि महाराज आप यज्ञ न खरीदें। इसने कुतियाके एक बार चार छः रोटी खिलाकर प्राण बचाये थे उसमें जो पुण्य बंध इसने किया था वह आप खरीद लें। वह सोचता है कि दो चार रोटी खिलानेका इतना महत्त्व बता रहे हैं और जिसमें हजारों रुपये खर्च हुए उसका महत्त्व नहीं बताते हैं। उसे कुछ श्रद्धा हुई—बोला महाराज, मैं यह पुण्य न बेचूँगा। आप मेरे सारे यज्ञ खरीद लें पर इसको न बेचूंगे।

शान्तिका कारण ज्ञान व ध्यान— जिनकी स्थिति थोड़ी है उसीके अन्दर अपनी शक्ति माफिक दान करते हैं, धर्म करते हैं तो उनको बड़ा पुण्य होता है। ज्ञानीजन परवाह नहीं करते हैं, जो स्थिति है उसीमें खुश रहते हैं। पूजा करो, स्वाध्याय करो, ज्ञान बढ़ाओ और ऐसी पुस्तकोंका स्वाध्याय करो जिन पुस्तकोंसे आपको तत्काल ज्ञान हो जाय। जो समझा समझा कर उपदेश देने वाली पुस्तकें हैं उनका स्वाध्याय करिये। एक ज्ञानकी ही वृद्धि करनेमें लग जाइये। ज्ञानसे जो आनन्द होगा, शांति मिलेगी वह अन्य प्रकारसे नहीं मिल सकती है। पुराणोंमें पढ़ा होगा कि बड़े-बड़े राजा दुखिया रहे, उनका दुःख दूर तब हुआ जब उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। पांडव और कौरवमें कितना बड़ा युद्ध हुआ पर पाण्डवोंको शांति तब मिली जब उन्होंने सर्व परित्याग करके निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण की, अपने आत्माका उन्होंने आदर किया तब उनको शांति प्राप्त हुई। बाह्य पदार्थोंमें रहकर कोई पुरुष सुखी नहीं रह सकता है। जो सुख और शांति प्राप्त होगी वह अपने आपमें रम करके ही प्राप्त होगी।

रागादिकी बन्धनरूपता— अज्ञानी जीव रागद्वेषमोहके परिणाम करता है। जो जीव स्वच्छन्द होकर किसी के रागमें आकर बह जाता है वह बह जाता है। प्रभुने क्या किया जिनकी हम पूजा करते हैं? मोह पहिले त्यागा, घरमें रहकर भी मोह त्यागा जा सकता है। न मानें कुछ अपना। बस रहे हैं घरमें पर यह जानें कि मेरा तो मैं ही आत्मा हूं, दूसरा मेरा कुछ नहीं है। तो वहां कोई अशांति नहीं हो सकती है। जो ये अज्ञानसे रागादिक परिणाम होते हैं ये कर्मबंध करते हैं। जब तक कर्मोंका बंध है तब तक जन्म मरण है।

वर्तमान स्थितिका गौरव— पशुओंमें पैदा हुए पक्षियोंमें पैदा हुए,

अब मनुष्य हुए हैं। तो अनेक जीवोंसे कितने भले हैं अपन लोग। बोल सकते हैं, अपने मनकी बात बता सकते हैं, दूसरेकी बात सुन सकते हैं वे बेचारे पशुपक्षी चांय-चांय करते हैं, किसीको अपना अभिप्राय नहीं बता सकते हैं, कितने कष्ट हैं उनको और हम आप जो मनुष्यपर्यायमें हैं हम आप गृहस्थ भी उतना ऊँचा ज्ञान पा सकते हैं जो कि साधुसंतोंके भी साधारण संयममें रहते हुए प्राप्त होता है। तो अपनी वर्तमान परिस्थिति का गौरव मानना चाहिए। हम केवल मोह, राग करनेके लिए ही नहीं उत्पन्न हुए हैं। हम अपने आपकी सिद्धिके लिए उत्पन्न हुए हैं। ऐसा जानकर तृष्णाका ख्याल छोड़ो, मोहका परिणाम छोड़ो और अपने को ज्ञानरूपमें निरखो।

आत्मत्व और आत्मविकार— मैं आत्मा केवल ज्ञानप्रकाशरूप हूं। ये सब मोहके नाटक हैं जो रिश्तेदार माने जाते हैं और और तरहके दंद फंद किए जाते हैं ये सब मोहके नाटक हैं। इन मोहके नृत्योंमें रहकर कोई जीव सुखी नहीं रह सकता है। सो ऐसा उपाय करो कि जिस उपाय से जन्म मरण मिट जाये। भगवानकी पूजामें बोलते हैं कि जन्म, जरा, मरण ये मेरे नष्ट हो जायें, इसके लिए मैं जल चढ़ाता हूं तो जैसे पानी मलको साफ कर देता है इसी प्रकार भगवान्के भक्तिजलसे हम इन तीनों मैलोंको साफ करना चाहते हैं। हमें जन्म, जरा, मरण इन तीनों रोगोंको दूर करना है इसलिए मैं जलका समर्पण करता हूं। जलमें आत्मरोगमल धोनेकी सामर्थ्य नहीं अतः इसे त्यागता हूं। संसारका ताप नष्ट करनेके लिए चंदन चढ़ाता हूं। चंदन संतापको दूर करता है। यहाँ यह भाव बनाया कि इस चंदनमें यह ताकत नहीं है कि मेरे संसारतापको दूर कर सके इसलिए मैं चंदनका त्याग करता हूं।

धर्ममें त्यागकी बहुलता— अक्षयपदकी प्राप्तिके लिए मैं अक्षतका त्याग करता हूं। इन चावलोंके त्यागसे क्या हमें अक्षयपद मिल जायेगा जिस पदमें मरण नहीं है? नहीं, इसलिए इन अक्षतोंका त्याग किया जाता है। ये पुष्प कामके साधन हैं सो इन कामबाणोंको नष्ट करने के लिए हम इन पुष्पोंका त्याग करते हैं। क्षुधा एक महान् रोग है, जिस रोगसे यह सारा जगत दुःखी हो रहा है और लोगोंने जान लिया कि नैवेद्य और भोजन ये इस रोगको मिटा सकते हैं। मगर ज्ञानी कहते हैं कि नैवेद्यमें सामर्थ्य नहीं है कि क्षुधाका रोग मिट जाय। सदाके लिए क्षुधा मिट जाय ऐसी सामर्थ्य तो आत्मभक्तिमें है, तपस्यामें है इसलिए मैं इन नैवेद्य आदिकको त्यागता हूं। अष्टकर्मोंके जलानेके लिए मैं धूपको त्यागता हूं।

मोक्षफलके पानेके लिए मैं इन फलोंको त्यागता हूं। तो त्याग ही त्याग इस जैन सिद्धान्तमें बताया गया है। त्याग बिना कोई सुखी नहीं हो सकता है। इसलिए मनसे त्यागपरिणाम बनाऊँ।

अपने आत्माकी संभालकी स्वयं त्यागस्वरूपता— भैया! अपने को ऐसा देखें कि यह मैं ज्ञानमय आत्मा स्वयं अपनी वस्तुवोंके त्यागस्वरूप हूं। मुझमें कौनसी परवस्तु लगी है? मैं अकेला हूं और सर्व परसे शून्य हूं। ऐसा अपने आपमें अपने आपको देखें तो यह एक सबसे बड़ा ज्ञान-वैभव है। प्रभु अपने ज्ञानमें सदा लीन रहता है। धनसे सुख होता तो प्रभु धन क्यों त्यागते? परिवारसे सुख होता तो प्रभु परिवारको क्यों तागते? त्यागमें सुख है, ग्रहणमें सुख नहीं है। समग्र परवस्तुवोंका त्याग हो तो शांति इसे मिल सकती है। विकल्पोंमें किसी परको रखें तो वहां अशांति ही है। यह सारा जगत परपदार्थोंको अपनाकर ग्रहण करता है। पर-पदार्थोंको अपना मानकर अपने चित्तमें फँसाकर दुःखी हो रहा है। इस जगत्में किसीको सुखी कर सकने वाला कोई दूसरा प्राणी नहीं है। हम ही अपना निराला परिणाम बनाएँ, मोह राग दूर करें तो लो हम ही सुखी हो लें।

रागका त्याग सुखी होनेका मूल कारण-- देखो भैया! कितना राग लगा है? शरीरका राग लगा है, शरीर अच्छा होना चाहिए, पुष्ट होना चाहिए। इज्जतका राग लगा है। मेरी पोजीशन बढ़नी चाहिए। लोग मुझे अच्छा मानें। धनका राग लगा है। धन सम्पदा मेरे बढ़नी चाहिए। धन बढ़ाकर इज्जत बढ़ाकर क्या आत्माको शांति मिल सकेगी? नहीं मिल सकती। शांति तो केवल एक शुद्ध अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें मिल सकती है। सो प्रत्यक्ष देख लो कि इस मोहके होनेसे सारी दुनिया बरबाद हो रही है। भीतरमें यह नहीं विचारते कि मोहरहित मैं एक ज्ञानमात्र तत्त्व हूं, प्रभुकी जातिका हूं। यदि प्रभु जैसा बनना है तो अपनेको अकेला देखो। यह जीव अकेला ही जन्मता और अकेले ही सुख दुःख भोगता है। इसके साथ कोई दूसरा नहीं है। ऐसा जानकर परपदार्थोंसे तृष्णा त्यागो और अपने आपमें सुखी रहो।

दुःखोंका कारण मोह, राग और द्वेष— इस जगतके प्राणीको जितने भी कष्ट हैं वे राग द्वेष मोहके कारण हैं। मोह तो नाम है मिथ्यात्व का और राग नाम है प्रेमका और द्वेष नाम है विरोधका। मोहका यह अर्थ है जो सम्यक्त्वको न होने दे। इस मोहका दूसरा नाम है दर्शनमोह। संसारके समस्त जीव अत्यन्त जुदे-जुदे हैं। किसी जीवका किसी दूसरेके

साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी कोई किसीको अपना माने तो यह उसका मोह है, मिथ्यात्व है, सम्यक्त्वसे विरुद्ध परिणमन है। रागद्वेष चारित्रमोहको कहते हैं। चारित्र मोह २५ प्रकारका होता है। सब जानते हैं।

राग द्वेषका परिवार— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ। ऐसा क्रोध मान होना और माया लोभ होना जिससे जीव इस चतुर्गति में रुलते रहें, उन्हें अपने आत्मतत्त्वका दर्शन न हो। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ वह कहलाता है जो आत्मामें जरा भी संयम न होने दे। श्रावकका व्रत भी न होने दे ऐसा कषाय। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे कषाय हैं कि ये मुनि व्रत नहीं होने देते और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे कषाय हैं कि ये इसको केवलज्ञान नहीं होने देते, यथाख्यात चारित्र नहीं होने देते। तो ये १६ कषाय और हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, ये नौ नोकषाय ये सब राग और द्वेषके परिणाम हैं।

चारित्रमोहोंमें राग द्वेषका विभाग— क्रोध व मान द्वेषमें शामिल हैं और माया व लोभ रागमें शामिल हैं। जो क्रोध करते हैं वे द्वेषका परिणाम करते हैं, सो सब जानते ही हैं कि क्रोधके समय इसके सारे गुण भुलस जाते हैं। क्रोधी मनुष्य किसीको प्रिय नहीं होता। प्रिय तो कषायवान् कोई भी नहीं होता। क्रोधीकी शकल देखते ही दर्शक लोग यह सोचते हैं कि यह मेरे लिए क्या उपद्रव आया? तो वह क्रोध साक्षात् द्वेष है और मान भी द्वेषसे होता है। मानमें दूसरेको तुच्छ गिनना और अपनेको महान् गिनना यही तो परिणाम होता है। तो दूसरेको तुच्छ गिना और दूसरेसे द्वेष किया। द्वेषरूप भाव हुए बिना मान कषाय नहीं बनता। माया रागमें बनती है और लोभ रागमें बनता है।

मोहके प्रसारके परिहारका उपाय— यह सारा अज्ञान रागद्वेषके दो पाटोंके बीच पिस रहा है और दुःखी हो रहा है। ऐसे मोहकी धूल इसके सिर पर चढ़ी है, बुद्धि पर चढ़ी है कि जिन बातोंसे ये दुःखी होते हैं उन्हीं बातोंको ये करते चले जाते हैं। घरमें आप लोग रहते हैं ठीक है। रहिये, पर अपने आत्माको भी तो जाना होगा कि मैं आत्मा इन सबमें मिला जुला हूं या कोई स्वतंत्र हूं। मैं एक ज्ञानज्योति वाला पदार्थ हूं। घरमें रहते हुए भी यदि यह दृष्टि जाय कि मैं तो इन सबसे न्यारा हूं तो आपको मोह न रहेगा। राग और द्वेष तो चलेगा कुछ समय तक जब तक आप घरमें रहते हैं, पर सच्चा ज्ञान जगेगा तो मोह न रहेगा। जिसके मोह नहीं,

रहता उसको भी मोक्षमार्गी कहते हैं, सम्यग्दृष्टि कहते हैं, जैन कहते हैं।

मोहके हटनेसे ही उन्नतिकी संभवता— भैया ! मोहके मिटा लेने में कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि निराकुलता है, सिद्धि है। चीज आपकी वही है, घर वही, दुकान वही, लोग वही, पर एक भीतरसे सम्बन्ध बुद्धि मिट जाय। मुँहसे कहनेकी बात नहीं कह रहे हैं कि आप घरके लोगोंसे ऐसा कहें कि तुम मेरे कुछ नहीं लगते हो, हमारा तुमसे कुछ मतलब नहीं, ऐसी बात न कहो किन्तु अन्तरमें यह तो ज्ञान बनाए रहो कि हैं सब जीव अलग-अलग। किसी जीवके साथ न कोई आया और न कोई जायेगा। इतना ध्यान बनाए रहो तो आपका मोक्ष मार्ग परिणामानुरूप बराबर चलता रहेगा। शांति और आनन्दसे आप दूर नहीं है। मोह करनेसे कुछ विकास नहीं होता, बरबादी ही होती है, पापका उदय जल्दी ही आता है।

मोहके दूर होनेसे व्यवस्थाकी भी श्रेष्ठता— भैया ! मोह न करते हुए घरमें रहें तो घर और बढ़िया चलेगा और मोह करके रहें तो घर उन्नतिशील न हो सकेगा। क्या आप यह जानते हैं कि मैं इन्हें पालता हूं मैं इन्हें पोसता हूं ? अरे उनका भी उदय उनके साथ लगा है। जो आज बच्चा पैदा हुआ है वह तो पूर्वजन्मसे ताजा पुण्य लिए हुए आया है तभी तो उसकी कितनी खुशी मनायी जा रही है, और उस बच्चेकी रक्षा के लिए कितनी चेष्टाएँ की जा रही हैं ? जितने भी घरके लोग हैं सबका उनके साथ पुण्य लगा हुआ है। वे अपने उदयके अनुसार सुखी रहते हैं। आप उनके पालनहार नहीं हैं। उनका उदय अनुकूल है तो आप उनके पालनमें निमित्त बनते हैं।

जीवकी स्वतंत्रताका स्मरण रखिए, इससे मोह दूर होगा, मोह दूर होनेसे पुण्यकी वृद्धि होगी, पापका क्षय होगा, उन्नतिशील बनोगे पर मोह रखनेसे कोई लाभ न होगा। बहुतसे भिखारी जाते फिरते घर बसाये हुए रहते हैं, उनमें भी मोह तीव्र चल रहा है। तो क्या किसीको अपनाने से मोह करनेसे उसकी बढ़वारी हो जाती है ? नहीं होती है। यदि विवेक जग जाय कि किसीके प्रदेश किसीमें मिले नहीं हैं, किसीके परिणमनसे किसी दूसरेका परिणमन होता नहीं है, ऐसी बुद्धिसे वस्तुके स्वरूपको परखने लगें तो वहां मोह नहीं रहता। जहां मोह नहीं रहा वहां पुण्यका रस तो बढ़ता है और पापका रस घटता है और मोक्षमार्गकी आगे सिद्धि रहती है। तीन बातें होती हैं तब कल्याण होगा और होता ही है।

धर्माश्रयकी कर्तव्यता— भैया ! प्रथम बात तो यह है कि धर्ममें दृष्टि रहे। केवल मैं जैसा शुद्ध ज्ञानप्रकाशरूप हूं ऐसा ही अपनेको मानें

और ये जो पर्यायें हैं, मैं मनुष्य हूं, स्त्री हूं, पशुपक्षी हूं, धनवान हूं, इनमें ऐसा विश्वास हो कि मैं इन रूप नहीं हूं। मैं तो शुद्ध ज्ञान प्रकाशमात्र हूं, ऐसी अपने आपकी प्रतीति जगे इसका नाम है धर्मका पालन, धर्मकी दृष्टि और फिर जैसे-जैसे रागद्वेष कम होते जाते हैं वैसे ही वैसे धर्म वृद्धि होती जाती है। ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके पुण्यका रस तो बढ़ता जाता है और पापका रस घटता जाता है, धर्मकी दृष्टि प्रबल होती जाती है और वह ज्ञानी जैसा अपने आपको मान रहा है केवल शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र ऐसा कभी हो जायेगा। जो ऐसा होता है उसे कहते हैं परमात्मा।

स्वभाव व परिणमनकी समानता— भैया! जिन देवकी हम पूजा करते हैं तो उनमें कौनसी करामात है कि हम सुबह ही उठकर, नहाकर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं? उनमें करामात यह है कि जैसा उनका शुद्ध स्वरूप है वैसा शुद्ध स्वरूप प्रकट हो गया है। यह उनकी परम कला है जिससे हम उनकी भक्तिके लिए खिंचे-खिंचे फिरते हैं। यदि जगतके जीवोंकी भांति अपनी स्त्री कुटुम्ब वाला वह प्रभु होता या जहां वहांके लोगों को युद्ध आदिमें सलाह सहयोग देता, विडम्बना को करता होता तो साधारण पुरुषोंमें और उस परमात्मामें फर्क क्या रहा? परमात्मा वही है जो पूर्ण निर्दोष है और पूर्ण गुणसम्पन्न है। ये दो ही मुख्य व्याख्यायें हैं, दोष रंच न हो और गुण पूरे हो गए हों उसका नाम भगवान है।

प्रभुकी उपासनाका कारण— संसारी जीवमें दोष तो पाये जाते हैं और गुणोंकी कमी पायी जाती है, पर परमात्मामें दोष एक न मिलेगा और उनमें पूरे गुण हो गए हैं, यह भगवानकी विशेषता है और हमको भगवानकी उपासना क्यों करना चाहिए कि हमें भी यह बात चाहिए कि हममें दोष एक न रहे और गुण पूरे प्रकट हों। इससे सारी आकुलता मिट जायेगी। दोषके रहनेसे आकुलता रहती है और गुणोंकी कमीसे भी आकुलता रहती है, दोष एक न रहे और गुण पूरे हो जायें तो वहां आकुलता नहीं रह सकती। दोष क्या हैं? परको अपना मानना, परसे प्रीति करना, परसे विरोध रखना, बाहरी बातोंसे अपनी इज्जत मानना, दूसरे लोग मुझे बड़ा समझें, ऐसी पोजीशनका आशय रखना ये सब दोष हैं।

दोषोंकी विपाक आकुलता— देखलो भैया! इन दोषोंके बीच रहते हुए आकुलता रहती है या नहीं रहती है। भगवान पूर्ण निराकुल हैं क्योंकि उनके विकल्प ही नहीं होते। वह न इज्जत चाहे, न दुनियामें अपनी पोजीशन रखना चाहे। वह तो शुद्ध द्रव्यकी भांति पूर्ण निर्दोष हैं और इसी कारण उनके गुण पूर्ण प्रकट हैं। उनमें दोष नहीं रहे और गुण पूरे प्रकट

हो गए। भैया! अपने दोष किसे विदित नहीं हैं। सर्वदोषोंको दूर करने का यत्न किया जाय, यही भगवानकी सच्ची भक्ति है, यही धर्मका पालन है।

दोषोंके विनाशका क्रम— वे दोष यहां तीन प्रकारके बताए गए हैं—मोह, राग और द्वेष। इन तीनोंमें सबसे बड़ा दोष है मोह। इनमें पहिले मिटना है मोह, ऐसा न होगा कि रागद्वेष पहिले मिटे और मोह पीछे मिटे। इनमें प्रथम नष्ट होता है मोह। मोह नाम अज्ञानका है। परपदार्थों से अपना सम्बन्ध मानना मोह है। मोह मिटनेके बाद फिर मूलसे मिटता है द्वेष। द्वेष परिणमन सूक्ष्मरूपसे भी अधिकसे अधिक रहता है तो ९ वें गुणस्थानके कुछ भाग तक रहता है। द्वेष मिट चुकनेके बाद फिर मिटता है राग। राग मिटता है १० वें गुणस्थानके अंतमें। तो सबसे कठिन चीज है राग। कोई जीव चाहे कि मैं राग मिटा दूं तो उसके लिए बहुत कठिन पड़ेगा। हां, कुञ्जी मिल जाय तो उसके लिए बहुत सरल हो जाय।

रागद्वेष मेटनेकी कुञ्जी— जब तक रागद्वेष मेटनेकी कुञ्जी नहीं मिलती है तब तक भले ही यह चाह रहे कि रागद्वेष मेरे मिटें पर मिट नहीं सकते। और जहां कुञ्जी प्राप्त हो गयी वहां इसके रागद्वेष दूर हो सकते हैं। वह कुञ्जी क्या है? अपने ज्ञानस्वरूप आत्माके जाननेका दृढ़ अभ्यास हो—मेरा रागस्वरूप नहीं है, राग कर्मोंके उदयसे होता है, राग मेरे दुःख देनेके लिए ही होता है, संसारमें भ्रमण करानेके लिए ही होता है, मैं रागरहित ज्ञानस्वभाव मात्र हूं, ऐसा अपनेको वैराग्यस्वभाव ज्ञान-मात्र लक्ष्यमें लें तो उसके राग दूर हो सकता है।

राग मेटनेका अन्तःपुरुषार्थ— एक ज्ञानस्वभाव आत्मतत्त्व लक्ष्य में न आये और ऊपरी उपायोंसे हम रागको दूर करना चाहें तो नहीं हो सकता है। अमुक चीजसे राग है उसको छोड़ें तो क्या राग मिट जायेगा? भले ही सहायक तो है चीजोंका त्याग, मगर मात्र चीजके छोड़ने से राग नहीं मिटता। चीजको छोड़ दिया, आप अलग पहुंच गए पर मन से विचार तब भी तो कर सकते हो। राग तो मनसे होता है ना। तो जब तक मन ऐसा न बने कि वह राग न कर सके तब तक राग कैसे मिट सकता है? मन ऐसा कब बने कि यह राग न कर सके। जब ऐसा प्रकाश हमारे ज्ञानमें आयेगा कि राग तो विकार है, औपाधिक है, मेरे स्वरूपमें ही नहीं है। हो गया है मुझमें, पर स्वभावमें राग नहीं है। मेरा स्वभाव तो भगवानकी तरह केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है—ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको लक्ष्यमें लें तो राग मिट सकता है और राग मिटा कि सर्वसिद्धि

हो गई।

अज्ञानीका राग— प्रभुमें और मुझमें अन्तर रागका ही तो है। वह प्रभु वीतराग है और इस मुझ आत्मामें रागका फैलाव चल रहा है। यह राग मेरा स्वरूप नहीं है मगर यह झलक रहा है और अज्ञानी जीव अपने में झलकने वाले रागको अपना स्वरूप मानकर रागमें एकमेक होकर अपने आपको भूल जाते हैं और ऐसा ही समझते हैं कि अमुकचंद ही तो मैं हूं, लखपति या हजारपति ही तो मैं हूं, इतने परिवार वाला यही तो मैं हूं, ऐसे रूप रंग वाला, ऐसे आकार वाला यह ही तो मैं हूं इत्यादि रूपसे उनकी बुद्धि हो जाती है और अपना जो सहज सत्यस्वरूप है, अमूर्त, ज्ञानमात्र, उसकी वह दृष्टि ही नहीं करता। तो यों यह जीव मोहके वश होकर अपने आपको भूलकर संसारमें रुल रहा है।

मोहका फल— छहढालामें बताया है कि मोहरूपी तेज शराब पी कर यह जीव अनादिकालसे एक स्वासमें १८ बार जन्म और मरण करता है। अपने आपको संसारमें भटकाता हुआ चला आ रहा है। अब आप देखें सबकी यही दशा थी पहिले। जितने जीव हैं ये सब निगोद थे पहिले। जितने ये दिख रहे हैं। ये भी निगोद थे और जो भगवान बने हैं अरहंत और सिद्ध बन गए हैं ये भी कभी निगोदमें थे। जीवके घर ही मुख्य दो हैं--या तो निगोद या मोक्ष। बाकी बीचके स्थानोंमें तो यह थोड़े समयको रहता है। चिर काल तक रह सकता है यह जीव तो निगोदमें रह सकता है या मोक्षमें रह सकता है। मोक्षमें तो फिर यह सदाके लिये रहता है।

हमारा पूर्व परिणमन और वर्तमान अभ्युत्थान— निगोद क्या चीज होती है कि पृथ्वी आदि जो एकेन्द्रिय जीव हैं इनसे भी निकृष्ट सूक्ष्म शरीर वाले एकेन्द्रिय जीव होते हैं। वे कहीं तो वनस्पतिके सहारे रहते हैं और कहीं बिना सहारे भी रहते हैं। यहां भी सब जगह एकेन्द्रिय निगोद ठसाठस भरे हैं। वे एक सेकेण्डमें २३ बार तो जन्म ले लेते हैं और उतना ही उनका मरण हो जाता है। क्योंकि नवीन भव होनेको ही पूर्वभवका नाश कहते हैं। तो हम निगोदसे निकलकर आज दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय आदि तुच्छ भवोंको पार करके मनुष्य हुए है तो आज बड़ी गम्भीरतासे जानना है कि हमारे करने लायक कार्य क्या है कि हम इन संसारके संकटोंसे कैसे दूर हो सकें ?

रागादिकका उपादान आत्मा होनेपर भी आत्मस्वभावत्वका अभाव— आत्मा रागादिकका करने वाला नहीं है, इस तत्त्वको यहां सिद्ध करते हैं वैसे रागादिक भाव आत्मामें ही होते हैं, पुद्गलमें नहीं होते हैं, मगर

आत्मा अपने आप अपने स्वभावसे रागादिकको नहीं करता है। क्योंकि यदि आत्मा अपने स्वभावसे रागादिक को करने लगे तो रागादिक कभी नहीं छूट सकते क्योंकि वह सब तो आत्माका स्वभाव हो गया और जो स्वभाव है वह अनन्त कालमें भी नहीं छूटता।

दृष्टान्तपूर्वक परभावकी सिद्धि-- जैसे दर्पणमें छायाका प्रतिबिम्ब पड़ता तो है, जो चीज सामने आ जाय उसका अक्स पड़ता तो है, मगर उस छायाको वह अपनी तरफसे नहीं करता। चीज सामने हो तो दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ता। चीज कुछ भी सामने न हो और दर्पण अपने आप प्रतिबिम्ब किया करे, क्या ऐसा होता है? नहीं होता। दर्पणमें जो छाया पड़ती है वह परपदार्थकी सन्निधि पाकर परिणमती है। दर्पण अपने आप पेड़के आकाररूप अथवा और किसी अन्यके आकार रूप नहीं परिणमता। उपाधि कोई सामने हो तो दर्पण छायारूप परिणमता है। इसी तरह आत्मा अपने आप रागादिक रूप नहीं परिणमता है, कर्मोंका उदय सन्निधिमें हो तो रागादिकरूप परिणमेगा। तो यहां प्रश्न किया जा रहा है कि हम कैसे जानें कि आत्मा रागादिकका करने वाला नहीं है? ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर रूपमें ये तीन गाथाएँ आयेंगी उनमें यह पहिली गाथा है!

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चखाणं तहेव विण्णेयं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया॥२८३॥

अप्रतिक्रमणका द्वैविध्य-- अप्रतिक्रमण दो तरहका होता है। अप्रतिक्रमणका अर्थ है पूर्व लगी हुयी उपाधिका त्याग न करना, पदार्थका त्याग न करना। सो यह अप्रतिक्रमण दो तरहका है--एक भाव अप्रतिक्रमण और एक द्रव्य अप्रतिक्रमण। याने एक तो चीजका त्याग न करना और एक कल्पनाका त्याग न करना याने अत्यागो त्याग न करना दो तरह का है--एक तो बाहरी चीजोंका त्याग न करना, दूसरे वस्तुविषयक कल्पनाका त्याग न करना। तो दो प्रकारके ये जो अत्याग बताये गए हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मबंधमें इन दोनोंका ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। याने द्रव्यका त्याग न किया तो कल्पनाका त्याग न हुआ। कोई मनुष्य खूब उपाधि रखे, परिग्रह रखे और कहे कि हमारे तो उसके अन्दर भाव नहीं हैं तो कौन मानेगा? जब बाह्य पदार्थोंका त्याग नहीं किया जा सकता है तो समझना चाहिए कि तद्विषयक कल्पनाएँ भी निरन्तर बनी रहती हैं।

भावअप्रतिक्रमणका निमित्त द्रव्य अप्रतिक्रमण-- तद्विषयक जो

कल्पना है उसका निमित्त कारण है बाह्य चीजोंका त्याग न करना। यद्यपि बाह्य चीजोंका त्याग कर देने पर भी किसी किसीके उसकी कल्पना नहीं मिटती है। वह सोचता रहता है, मगर बाहरी चीजोंको पकड़े रहे और कल्पना न रहे यह नहीं हो सकता। तो इस कल्पनाका करने वाला यह जीव स्वभावसे नहीं है। यदि यह जीव अपने रागादिकका करने वाला स्वभावसे होता तो रागादिक सदैव रहने चाहियें।

राग मेटनेका मौलिक उपाय— अनादिकालसे यह सारा विश्व रागसे परेशान है। दूसरा इस जीवको कोई दुःख नहीं है। कोई किसी प्रकारका राग लिए है, कोई किसी प्रकारका राग लिए है, सब जीव रागवश दुःखी हैं। किसीको परिवारविषयक राग है, किसीको पोजीशन, इज्जत का राग है। किसीको कुछ राग है। सबको राग लग रहा है। नहीं तो इस जीवको कष्ट क्या है? तो यह राग कैसे छूटे? इसका उपाय इसमें बताया जा रहा है। राग छोड़नेके कितने ही उपाय हैं, कितने ही ग्रन्थोंमें बताये गए हैं। बड़ी तपस्या करें, घर बार छोड़ें, गुरुवोंकी संगतिमें बसें, बहुत से उपाय कहे गए हैं पर जैन सिद्धान्त राग मेटनेका मूल उपाय यह बताता है कि पहिले तुम यह जान जावो कि राग करना मेरा स्वभाव नहीं है। अपने उस स्वच्छ ज्ञानस्वभावकी पहिचान तो करो, अर्थात् यह मैं आत्मा अपनी ओरसे अपने सत्त्वके कारण केवल ज्ञाता दृष्टा हूं। इसका काम केवल जानन देखनका है। इसके आगे इस मुझ आत्माका कार्य नहीं है। पहिले ऐसा पहिचान तो लो फिर राग मिटेगा ही।

प्रतीतिके अनुसार वृत्ति— अपने आपमें ऐसा जाने बिना रागका त्याग नहीं कर सकते क्योंकि जब यह जान लिया कि मेरा तो काम राग करनेका है, मेरा काम मोह करनेका है तो मोह छोड़ेगा नहीं। जैसे कोई जानता है कि मैं इन्सान हूं और मेरा दुनियाकी सेवा करनेका काम है। तो जब उसने अपने को इन्सान समझ लिया तो वह बाह्यमें सबकी सेवा करेगा। और कोई जान ले कि मैं तो एक आत्मा हूं, इन्सान होना तो एक उपाधिका काम है। चार गतियां हैं नरकगति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देवगति। ये स्थायी चीजें नहीं हैं। अभी मनुष्यभवमें हैं और इस मनुष्यभवको छोड़कर अन्य किसी भवमें पहुंच गए, फिर यह तो कुछ नहीं। तो यह भव मिलना मेरे आत्माका काम नहीं है। मेरे आत्माका काम तो केवल जाननहार बने रहना है। जाननहार बने रहने के आगे जो रागद्वेष करनेका भाव पैदा होता है वह सब परभाव है। मेरे आत्मा का काम नहीं है। ऐसे अपने अविकारी आत्माका परिचय हो तो राग

छूट सकता है।

अमौलिक उपायसे तोषकी अस्थायिता— भैया! मौलिक उपाय किये बिना कोई कारण मिलाकर रागको मंदा करलें तो कुछ समय मंदा रहा फिर बादमें तेज हो उठता है। जैसे किसी पुरुषको किसी इष्टका वियोग हो जाय जिससे बहुत बड़ा प्रेम था, उसके वियोग होनेसे उसे बड़ा क्लेश हो रहा है, उसके क्लेशको हटानेके लिए रिश्तेदार लोग उसे यात्रा कराने ले जाते, किसी तरहसे उसका मन बहलाते हैं। मन बहलाने के अवसरमें थोड़ा मन बहल जाय और उसका ख्याल कम हो जाय तो क्लेश तो उसके अब छूट गया, मगर मूलसे नहीं नष्ट हुआ है। जैसे ही उसे तेज ख्याल आया वहीं वह रोने लगता है। तो उसके इष्टवियोगसे होने वाला क्लेश मन बहलावेसे नहीं मिट सकता। किन्तु जब अन्तरमें यह दृढ़ ज्ञान हो जायेगा कि मेरे आत्माका तो मैं ही केवल आत्मा हूं, मेरा कोई न था, न है और न होगा। इस जगत्में सर्वत्र मैं अकेला हूं, ऐसे अपने एकत्व स्वभावको समझ ले तो इष्ट वियोगका दुःख मूलसे मिट जायेगा और इस उपायको तो करते नहीं और मन बहलाते फिरते तो उस दुःखको जड़से तो नहीं मिटाया जा सकता। इसी तरह आत्मामें जो रागादिक भाव होते हैं, जिन भावोंके कारण हम क्लेश करते फिरते हैं, वे रागादिक भाव मेरे मूलसे नहीं मिट सकते। कब तक? जब तक राग-रहित केवलज्ञानमात्र मेरा स्वभाव है, यह लक्ष्यमें न आजाय।

आत्माके रागादिकका अकर्तृत्व— राग रहित ज्ञायकस्वभावको लक्ष्यमें लिये बिना राग नहीं मिट सकते। इसीलिए आचार्यदेव यह बात बतला रहे हैं कि आत्मा रागादिक भावोंका कर्ता नहीं है। तो किसीने पूछा कि क्यों कर्ता नहीं है? कोई प्रमाण दो। तो उसके प्रमाणमें यह बात रखी जा रही है कि यदि आत्मा रागादिकका करने वाला होता तो अप्रति-क्रमण दो प्रकारके क्यों हो जाते। परवस्तुका त्याग न करना। अत्याग दो तरहके कैसे हो गए—एक भाव अत्याग और एक द्रव्यअत्याग। द्रव्य अत्यागकी क्या जरूरत थी? यह आत्मा तो अपने ही भावोंसे रागादिक करता है। तो यहां बताया गया है कि यदि परवस्तुका त्याग नहीं किया जा सकता तो भावोंका त्याग नहीं किया जा सकता। अर्थात् जब तक पर-वस्तुका त्याग न होगा तब तक भावोंसे कल्पना नहीं मिट सकती। इस तरह यह सिद्ध है कि आत्मामें जो कल्पनाएँ उत्पन्न होती हैं वे परवस्तुओं का आश्रय लेकर और कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर उत्पन्न होती हैं। आत्माका स्वभाव रागादिक करना नहीं है। तो दो प्रकारके जो अप्रति-

क्रमण कहे गए हैं और दो ही प्रकारके प्रत्याख्यान कहे हैं, इन उपदेशोंसे यह निश्चय करना कि यह आत्मा रागादिक भावोंका अकर्ता है, इसको और खुलासा करते हैं।

अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तह अपच्चक्खाणं।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८४॥

क्षितरूप उपदेश— अप्रतिक्रमण कहते हैं परवस्तुका त्याग न करना और अप्रत्याख्यान कहते हैं कि वस्तुको मैं कभी ग्रहण न करूँगा ऐसा संकल्प न करना। ये दोनों दो प्रकारके कहे गए हैं एक द्रव्यरूप और एक भावरूप। इस सम्बन्धमें यहां कहते हैं कि इन द्रव्यों व भावोंमें परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है अतः आत्मा अकर्ता है, याने परद्रव्य तो निमित्त हैं और आत्मामें जो रागादिक भाव होते हैं वे निमित्त-नैमित्तिक हैं, मेरे स्वभावसे नहीं हुए। जैनसिद्धान्तमें सम्यक्त्व उत्पन्न करानेके लिए मूलमें यह उपदेश किया है कि हम अपने सहज स्वभावको पहिचानें। हमारा सहज स्वभाव है केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेका। रागादिक करनेका हमारा स्वभाव नहीं है। जब ऐसा परिचयमें आयेगा तो रागादिक भावोंकी उपेक्षा होगी। जब यह विचार बनेगा कि ये रागादिक भाव जीवके आते तो हैं मगर जीवको बरबाद करनेके लिए आते हैं। ऐसा जाननेसे इन विकारोंसे उपेक्षा होगी।

विकारसे स्वकी हानि— जैसे एक पलाशका पेड़ होता है, उसमें लाख लग जाती है तो वह लाख उस पेड़को सुखा देनेके लिए लगती है। छेवलेके पेड़में कभी लाख लग जाय तो वह पेड़ सूख जाता है। इसी तरह ये रागादिक आत्मामें लगे तो हैं मगर आत्माको बरबाद करनेके लिए लगे हैं, क्योंकि ये परभाव हैं, आत्माका स्वभाव नहीं हैं। आत्माका तो केवल जानन देखन स्वभाव है। ऐसा यदि कोई कर सकता है कि वह प्रत्येक घटनाका केवल जाननहार रहे तो यह बहुत बड़ी चीज है। ऐसा तो एक विरक्त संत जिसका व्यवहारसे कोई सम्बन्ध नहीं वह ही कर सकता है।

लक्ष्य एक और प्रवृत्ति पदवीके अनुसार— सामान्यजन, गृहस्थजन अथवा व्यवहारमें लगे हुए साधुजन यदि ऐसी कोई घटना देखते हैं कि कोई किसी पर अन्याय कर रहा हो तो अपनी-अपनी पदवीके अनुसार जिसने जैसा त्याग नहीं किया, जिसका जितना वैराग्य नहीं है। उस भावके अनुसार वे वहां करुणा करते हैं, जिस पर अत्याचार किया जा रहा हो उसपर वे दया करते हैं और उस दयाके परिणाममें ऐसी प्रवृत्ति करते हैं कि जिससे उसकी रक्षा हो। अब उसकी रक्षा यदि दूसरेके हटानेसे

होती है, बचाने से होती है, किस बातसे होती है ? यह विवेक बतलायेगा वैसा यत्न किया जाता है। कोई जगह ऐसी भी हो कि कहो बचानेसे उस की कुगति हो, जिस पर अन्याय किया जा रहा हो। उसकी परसे रक्षा कैसे हो सकती है, उसका विवेक बतायेगा और उसकी जैसी पदवी होगी वैसा यत्न होगा। जैसे-जैसे विकल्पों वाला मनुष्य है उन उन पदवियोंके अनुसार उनका कर्तव्य हो जाता है। मगर उत्कृष्ट ज्ञानकी बात यहां कही जा रही है कि जो साधुसंत अपनी निर्विकल्प समाधिके लिए अपना विचार बनाते हैं उनका विश्वास इतना दृढ़ रहता है कि आत्माका स्वभाव केवल ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है। आत्मामें रागादिक हों, ऐसा करना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

रागादिककी अस्वभावताका एक दृष्टान्त—जैसे पानीमें मुखकी छाया पड़ जाती है तो पानीका स्वभाव नहीं है कि ऐसे मुखकी छाया अपनी ओरसे बना ले। यद्यपि वह छाया पानीमें ही बनी है, पानीके ही सूक्ष्म अणुवोंका इस प्रकारका आकार बन गया है, लेकिन पानीकी ओर से पानीका यह आकार नहीं बनता है। किन्तु मुखका सन्निधान पाकर पानी मुखके आकाररूप परिणम गया है। इसी तरह आत्मामें रागादिक भाव होते हैं। यह घड़ी बड़ी सुन्दर है तो हम इस घड़ीसे प्रेम करलें, पर घड़ी हमसे प्रेम नहीं करती। यदि घड़ी हमसे प्रेम करती होती तो वह गुम भी नहीं सकती थी। वह तो प्रेम करके मेरे ही पास आ जाती। तो अचेतन पदार्थोंमें प्रेम करनेमें माद्दा नहीं है। वह तो एक चेतन पदार्थमें है। मगर प्रेमभाव जो आत्मामें उत्पन्न हुआ वह आत्माके सत्त्वके कारण नहीं होता है। आत्माके एक्जिस्टेन्सके कारण नहीं होता है, पर कर्मोदय, बाह्यवस्तु इनका आश्रय पाकर होता है।

हे आत्मन्! तू अपने स्वभावको पहिचान। तू नित्य अविकार स्वभावी है, ज्ञाता द्रष्टा रहना तेरा काम है। ऐसा तू अविकारस्वभावी अपने आपको देख तो रागादिक भाव मिटेंगे। किसीसे अपना पिण्ड छुड़ाना हो तो सबसे पहिले उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है तब उससे पिण्ड छूटता है। एक ओर प्रेम भी बढ़ाते जाएँ और एक ओर प्रेम छोड़ना चाहें तो दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकती हैं। यह हाल बूढ़ोंके होता है, घर के पोता पोती उसे बहुत परेशान करते हैं, और वह बूढ़ा चाहता है कि मेरी परेशानी मिट जाय, मगर उसका प्रेम भी उनसे नहीं छूटता। तो ये दोनों बातें कैसे हो सकती हैं ? इसी प्रकार जिसे चीजोंका त्याग करना है उसे उनसे उपेक्षा भी होनी चाहिए।

रागादिकके अकर्तृत्वका निर्णय— भैया ! अगर किसीके उपयोग में यह भाव घर कर गया कि मेरे को दुःख देने वाले मेरे रागद्वेष मोहभाव हैं, इनसे पिंड छुटाना चाहिये तो पहिले उसे यह जानना होगा कि रागद्वेष भाव मेरे स्वरूप नहीं हैं। मैं इनका करने वाला नहीं हूं। इनसे मेरा अन्वयव्यतिरेक नहीं है। इस कारण मेरे नहीं हैं, इनसे मैं दूर रहता हूं। अपने ज्ञान द्वारा पहिले रागादिकोंकी उपेक्षा करना है और अपना जो ज्ञानस्वभाव है उसकी ओर प्रीति करते हैं तो रागादिक छूट जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान ये हैं भावों की मलिनताके कारण, ऐसा क्यों उपदेश देते हैं यदि आत्मा ही रागादिक का करने वाला होता है तो अप्रत्याग और अत्याख्यान दो छोड़ने चाहिये ऐसा उपदेश तो व्यर्थ था जैसे कहते हैं ना कि परिग्रहका परिमाण करो। परिग्रहका त्याग करो। क्यों त्याग करो ? तो रागादिक भावोंका करने वाला तो यह आत्मा ही हुआ।

द्रव्य और भावमें निमित्तनैमित्तिकता— तो हां, प्रश्न यह था कि त्याग करने से क्या फायदा है ? रागादिकको तो आत्मा अपने आप किया करता है। तो यह जो उपदेश दिया जाता, यह इस बातको सिद्ध करता कि रागादिक परवस्तुओंके संयोगसे होते हैं। आत्मा अपनी ओरसे रागादिक नहीं करता। इसलिए जिन्हें रागादिक न चाहियें वे चरणानुयोगकी विधि से बाह्य वस्तुओंका परित्याग करें। बाह्य वस्तुओंके त्याग बिना आत्मामें स्वच्छता नहीं उत्पन्न हो सकती, जो कि इसका स्वभाव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्माके रागादिक भावोंका निमित्त कारण परद्रव्य ही हैं। तब यह बात सिद्ध हो गई कि आत्मा रागादिक भावोंका कर्ता नहीं है। सो जब तक निमित्तभूत परद्रव्योंका त्याग नहीं किया जाता तब तक निमित्त-भूत आत्माकी मलिनताका भी त्याग नहीं हो सकता।

बाह्यमलके रहते हुए अन्तर्मलके अभाव— जैसे धान एक अनाज होता है उसमें चावल होता है। उस चावलकी ललाई तब तक नहीं निकाली जा सकती है जब तक चावलका बाहरी छिलका न निकाला जाय। पहिली बारमें बाहरी छिलके निकालते हैं और फिर उसके भीतर की ललाईको दूर करते हैं। इसी प्रकार पहिले परवस्तुका त्याग हो, फिर ज्ञानके अभ्याससे ज्ञानमात्र हूं, ऐसी दृढ़ भावना करके अपने आपकी मलिनताको भी दूर किया जा सकता है। इसी बातको इस प्रकरणमें सिद्ध किया जा रहा है कि जब बाह्य पदार्थोंके साथ, कर्मोंके उदयके साथ आत्मा की मलिनता का सम्बन्ध है तो यह निश्चय करो कि आत्मा तो शुद्ध

यह भगवान् आत्मा मेरा प्रकट हो।

जीवमात्रमें कारणपरमात्मत्वका सद्भाव— भगवान आत्माके स्वरूपकी तरह है। चीज एक है। आत्मा उसका भी नाम है और हम सबका भी नाम है। आत्माका अर्थ है जानन देखनहार पदार्थ, पर कोई आत्मा कम विकसित है कोई आत्मा पूर्ण विकसित है तो पूर्ण आत्माको तो कार्यपरमात्मा कहते हैं और कम विकसित आत्माको संसारी जीव कहते हैं। पर इस संसारी जीवमें अन्तरमें कारणपरमात्मत्व है। यह अन्तरात्माके उपयोगमें व्यक्तमें प्रकाशमान है। प्रभु परमात्माके प्रकाशके दर्शनसे फायदा भी यह है कि बारबार प्रभुके गुणोंका स्मरण करके अपने आपके स्वरूपका परिचय प्राप्त करते रहें। मैं भी ऐसा हूं, मेरा भी स्वभाव यह है, मैं अपने स्वभावको लक्ष्यमें लूँ तो इस स्वभावका विकास होगा।

दृष्टि और पुरुषार्थ- हम अपने आपको जैसा लक्ष्यमें लेते हैं वैसी ही सृष्टि होती है। हम अपनेको दीन मानें तो दीनरूप सृष्टि चलेगी, हम अपनेको असाधारण उपयोगरूप लक्षण मानें तो उस रूप सृष्टि चलेगी। जिस-जिस प्रकारका हम अपनेको मानें उस उस प्रकारकी सृष्टि चलती है। हम यदि विकाररहित केवलज्ञान दर्शन स्वरूप अपनेको मानें तो हमारा ज्ञाता दृष्टारूप परिणमन होगा। हमारा बाह्यमें अनुराग करनेका भाव न होगा। इसलिए जिन्हें रागादिक विकारोंसे छूटना है उनका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि इन्द्रियोंको संयत करके मनको केन्द्रित करके जगत्के पदार्थोंको असार और अहित जानकर एक बार यह निश्चय करके बैठें कि मुझे बाहरमें किसी पदार्थका चिंतवन नहीं करना है तो परके चिंतवनसे विराम जब हम पायेंगे तो अपने आप ही अपनेमें अपना उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपको पकड़ेगा और तब मुझे एक विलक्षण आनन्द होगा। यही अविकारी आत्मस्वभावका ग्रहण करना होता है, इसीसे मोक्षका मार्ग मिलता है।

कल्याणमय आत्मस्वरूप— आत्मा स्वभावसे कल्याणस्वरूप है क्योंकि आत्माका स्वरूप ज्ञानानन्दमात्र है। जैसे पुद्गलमें स्वरूपकी खोज की जाती है तो वहां रूप, रस, गंध, स्पर्श मिलता है तो इसी प्रकार आत्मामें स्वरूपकी खोजकी जाय और यह अभेदरूपसे समझा जाय तो मात्र ज्ञानप्रकाश मिलता है, लेकिन वह ज्ञानप्रकाश स्वय ज्ञानको भी वेदता है परको भी वेदता है, ऐसे प्रकाशके स्व पर प्रतिभासकता होनेका स्वभाव भी है। वहां स्वस्पर्शी दर्शन है। चूँकि यह ज्ञानप्रकाश अनाकुलता स्वरूप को लिए हुए है वहां आकुलता रंच नहीं है, इस कारण वह आनन्दको लिए

हुए है और शक्ति तो प्रत्येक द्रव्यमें होती ही है, जिसका जो स्वरूप है उस स्वरूप अपने को बनाए रहनेकी ताकत प्रत्येक पदार्थमें होती है। इसी प्रकार और और भी युक्तियोंसे सोचने पर आत्मामें अनन्त गुण दृष्ट होते हैं। पर उन सब गुणोंका प्रतिनिधि कोई असाधारण गुण कहा जाय तो वह है प्रतिभासस्वरूप। यह आत्मा प्रतिभास स्वरूप है, प्रतिभासने का नाम प्रतिभास है।

कल्याणमयपर अकल्याणकी छाया— यह आत्मा ज्योतिस्वरूप है, अतएव स्वयं कल्याणमय है, किन्तु खेदकी बात है कि स्वयं कल्याणमय पदार्थ होकर भी यह परिणतिमें अकल्याणरूप बन रहा है। रागद्वेष मोह ये जो विपरीत परिणमन हैं ये अकल्याण हैं। एक वस्तुका दूसरे वस्तुके साथ कुछ स्वामित्व नहीं है। यह जीव अपने उपयोगमें कुछ भी मानकर रहे किन्तु है यह सूनाका सूना है। सबसे निराला केवल अपने स्वरूपरूप मान भी ले यह ज्ञानी जीव बाह्य पदार्थोंको कि ये मेरे हैं, पर मान लेने से क्या है, रंच भी इसके नहीं हो पाते। लेकिन राग किए बिना और इस ही कारण रागमें बाधा आने पर दोष किए बिना यह रह नहीं पाता। है यह स्वयं कल्याणस्वरूप, किन्तु खेद यह है कि अकल्याणरूप बन रहा है।

अकल्याणवृत्ति— यदि यह लौकिक दरिद्र है तो दरिद्रताके विकल्पों से अपनेको बरबाद कर रहा है। कोई धनिक होते हैं, चक्री होते हैं, राजा बनते हैं, अटूट सम्पदा आती है तो तत्सम्बन्धी राग विकल्प करके अपने को बरबाद कर रहे हैं। आखिर छोड़ तो सब ही जाना है, रहेगा साथ कुछ नहीं, सब छोड़कर जाना है तो आगामी कालकी क्या परिस्थिति बनेगी, सो वह भावानुसार बात है। यह आत्मा कल्याणस्वरूप है, पर अकल्याणमय बन रहा है। इसका कारण क्या है? प्रथम तो कारण यह है कि आत्मा अपने स्वभावसे जैसा स्वयं है वैसा न मानकर अपनेको नाना पर्यायोंरूप मानता है। प्रथम अपराध तो जीवका यह है और इसी अपराधके कारण यह मानता है कि मैं रागद्वेष सुख दुःख सभीका करने वाला हूं, यह दूसरा अपराध है।

आत्माके स्वरूप और कार्यका निर्णय— इस बंधाधिकारके इस अंतिम प्रकरणमें यह निश्चित किया जा रहा है कि हे आत्मन्! तू नाना पर्यायोंरूप परिणमता है, पर यह परिणमन तेरे साथ रहनेका नहीं है, ये ..टते हैं, परिणमनका स्वभाव ही ऐसा है कि होता है और मिटता है। जो चीज मिट जाया करती है उस चीजमें अपना राग और आत्मीयता मानें पर ये मानने वाले भी खुद मिटते चले जा रहे हैं। तो

पहिली बात यह है कि जो परिणतियां हैं उन परिणमनोंमें आत्मीयताकी दृष्टि मत करो। दूसरी बात यह है कि तू अपने आपमें देख तो जरा कि तू किस कामको करने वाला है ? तू ज्ञानस्वभावी है, तेरा काम प्रतिक्षण निरन्तर जानते रहनेका है। कैसे जानते रहनेका है ? जगमग रूपसे जानते रहनेका है, विकार तेरा काम नहीं है।

जगमगस्वरूपका दृष्टान्त— जैसे एक सरसोंके तेलका दिया जल रहा है, रंच भी हवा नहीं है इसलिए वह लौ जरा भी हालती हुई नहीं है, स्थिर है। अथवा बिजलीका प्रकाश ही ले लो, जब कि पावरमें, उसके बहावमें कोई त्रुटि नहीं है, गलती नहीं है, ठीक तरहसे काम कर रही है और वह लट्टू घंटे भर तक स्थिर प्रकाश रखता हुआ जल रहा है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टिसे देखो तो उस दीपकके लौ को व लट्टूको भी हम जगमगरूप से जलता पावेंगे। वह केवल जग ही नहीं बन रहा है किन्तु साथमें मग भी बन रहा है अर्थात् वह लौ विकास और लीनता इन दो रूपोंमें रहती है। जैसे कि कोई हवाके तेज चलने पर व्यक्तरूपमें मालूम पड़ता है कि बढ़ा और घटा, अपनेमें संकुचित हुआ और अपनेसे बाहर विकसित हुआ, विकसित और संकुचित इन दो प्रवृत्तियोंको कहते हैं जगमग। विकसित हो तो जग और केन्द्रित हो तो मग।

आत्माके जगमग स्वरूपकी सिद्धि— जैसे दीपककी लौ जगमगरूप से जल रही है, बिजलीका प्रकाश जगमगरूपसे जल रहा है। जब कभी उस बिजलीमें खराबी आ जाती है तो उसका जगमग बड़ी जल्दी समझमें आता है। हल्का होनेका मतलब है अपनेमें केन्द्रित हो गया, बड़ा अर्थात् बाहरमें विकसित हो गया। तो विकसित होना और केन्द्रित होना ये दो बातें जैसे दीपकके लौमें रहती हैं इसी तरह आत्माके इस ज्ञानज्योति प्रकाशमें भी जगमग रहता है। जो जगका स्वरूप है वह तो ज्ञानका स्वरूप है और जो मगका स्वरूप है वह आनन्दका स्वरूप है। अर्थात् यह आत्मा ज्ञान और आनन्दको एक साथ लिए हुए एक नियमित रूपसे अपनी वृत्ति कर रहा है। ऐसा समर्थ ऐसा आनन्दमय, कृतार्थ यह मैं आत्मस्वरूप हूं।

अपनेमें परख— भैया ! सब अपने आपमें सोचें, अपने आपको निरखें कि लो यह तो मैं पूराका पूरा ज्ञानानन्दस्वरूप सबसे निराला अपने ही ज्ञान और आनन्दके परिणमनका करने वाला परिपूर्ण शुद्ध हूं। इस मेरे आत्माका किसी अन्य द्रव्यके साथ किसी भी प्रकारका रंच सम्बन्ध नहीं है। पर हां जब यह आत्मा अपने आपको भूल जाता है तो निमित्त-नैमित्तिक भावोंसे सर्वप्रथम इसके क्लेशके कारण बनने लगते हैं, और

यह क्लेशोंका उपादान बन जाता है। तो कल्याणके लिए दो बातें समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। एक तो समस्त पर और पर-भावोंसे रहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूपमात्र मैं हूं, दूसरी बात यह है कि मैं केवल जानन वृत्तिका कर्ता हूं, रागद्वेष सुख दुःख आदिकका मैं कर्ता नहीं हूं।

अध्यात्ममर्मकी दो बातें— अध्यात्मके अन्दरकी ये बातें विदित हो जाने पर इस प्रकार मनमें दृढ़ता हो जाती है कि अपना मन किसको सौंपें ? कोई भी बाह्य पदार्थ ऐसा नहीं है जो हमारे लिए हितरूप हो, शरणरूप हो, एक भी पदार्थ ऐसा नजर नहीं आता। भले ही मोहियोंकी गोष्ठीमें रहकर कोई मोही हमारी किसी बातको देखकर अपने आपके स्वार्थके कारण कुछ प्रशंसाकी बात कहे किन्तु उसका कार्य उसके ही कषाय के अनुसार परिणाम कर समाप्त हो जाता है। और यह मैं मोह रागकी कल्पनाएँ बढ़ा बढ़ा कर परकी ओर आकर्षित होकर अपनी वेदना प्रकट करके अपना काम समाप्त कर डालता हूं। एक वस्तुका दूसरे वस्तुके साथ सम्बन्ध है तो बरबादी करने वाला सम्बन्ध है, आबादी करने वाला सम्बन्ध नहीं है।

आत्माके रागादिके अकर्तृत्वकी चरणानुयोगसे सिद्धि— आत्मा रागादिकका कर्ता नहीं है, यह बात इस तरह सिद्ध की जा रही है कि देखो चरणानुयोगमें मोक्षमार्गमें बढ़नेके लिए व्यवहारसे प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना—ये तीन उपाय बनाये गए हैं। प्रतिक्रमण कहते हैं पूर्व समयमें जो अपना अनुभव किया है, जो रागादिक भाव किया है उसका स्मरण न करना यह तो है प्रतिक्रमण और स्मरण करना इसका नाम है अप्रतिक्रमण। और आगामी कालमें विषयोंकी भोगोंकी आशा न करना ऐसा है प्रत्याख्यान और आशा रखना यह है अप्रत्याख्यान। वर्तमान काल में जो आत्माका उपद्रव, विभावका उपसर्ग हो रहा है उसके यों ज्ञाता रहना कि मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है और यह उपाधिके सम्बन्धसे एक इस पर उपद्रव छाया हुआ है इसे कहते हैं आलोचना। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जैन सिद्धान्तम दो प्रकारके बताए गए हैं। एक द्रव्यरूप, एक भावरूप। इनमें परस्पर जो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा रागादिकका कर्ता नहीं है।

द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमणके उपदेशसे आत्माके रागादिके अकर्तृत्व की पुष्टि— पदार्थको न त्याग सकना, यह है द्रव्य अप्रतिक्रमण और उस पदार्थसम्बन्धी रागको न त्यागना इसका नाम है भाव अप्रतिक्रमण। देखो इस जीवमें जो भाव अप्रतिक्रमण हो रहे हैं उनको करने वाला यदि आत्मा

ही होता स्वभावसे, तो यह रागादिक सदाकाल रहना चाहिए था सो तो बात होती ही नहीं। अतः रागादिक भावोंका आत्मा कर्ता नहीं है, किन्तु परद्रव्योंका निमित्त पाकर बाह्य वस्तुओंका आश्रय करके ये रागादिक भाव बनते हैं। इस कारण इन रागादिकका मैं कर्ता नहीं हूं।

प्रतीति और सृष्टिका सम्बन्ध— भैया! यह जीव अपनेको जिस स्वरूप सोचता है उस स्वरूप ही अपनी सृष्टि बनाता है। यदि कोई अपनेको परिवार वाला मान रहा है तो क्यों न वह परिवारकी सेवा करेगा? क्योंकि मान लिया ना कि मैं परिवार वाला हूं। कोई अपनेको यदि स्वरूप मानता है, मैं सुन्दर रूप वाला हूं तो क्यों न उसमें घमंडका परिणाम होगा क्योंकि घमंड कर सकने लायक उसने अपने आपकी श्रद्धा की। जो जिसरूप अपने आपकी श्रद्धा करता है वह उस रूप अपनी सृष्टि बनाता है। जो आत्मा अपने आपकी इस रूप श्रद्धा करता है कि मैं एक चैतन्य-स्वरूप पदार्थ हूं, मैं न इस गांवका हूं, न घरका हूं, न देहका हूं किन्तु अपने स्वरूप सत्त्वमात्र हूं तो उसमें वैसी ही सृष्टि होती है।

अपनेमें आपका यथार्थ दर्शन— जब मैं अपने स्वरूप सत्त्वके घरसे निकल कर बाहरकी ओर डोलता हूं, तो इन इन्द्रियों द्वारा यह सब विदित होता है कि मकान मेरा है, घर मेरा है, परिवार मेरा है, पर हे आत्मन्! तू जो कुछ है केवल उसको ही देखकर तो बता कि तेरा कुछ है भी बल्कि जिस जीवको जिस पदार्थमें जितना अधिक राग है उस जीवका वह पदार्थ निमित्तदृष्टिसे उतना ही अधिक वैरी है। वास्तवमें वैरी दूसरा नहीं है किन्तु उस पदार्थसम्बन्धी राग बनाया तो मेरा यह राग ही मेरा वैरी बन गया। मेरा वैरी दूसरा नहीं है। मेरा मित्र दूसरा नहीं है, मेरा शरण दूसरा नहीं है। मेरा ही यह मैं आत्मा अपने आपको अपने सत्य स्वरूपमें तकने लगूं तो यह स्वरूप मेरा मित्र है। इन रागादिकका करने वाला मैं आत्मा नहीं हूं। तो भी जब तक यह जीव निमित्तभूत पर-द्रव्योंको नहीं त्यागता है तब तक नैमित्तिक भाव रूप अपनी कल्पनाको नहीं छोड़ सकता। इस कारण चरणानुयोगमें इसका उपदेश दिया है कि बाह्य पदार्थोंका परित्याग करो।

निर्भारतामें स्वकी अनुभूति— भैया! सुखी होना है तो अपनेको अकिंचन अनुभव करो, मेरा कहीं कुछ नहीं है। खूब भरपूर हो तुम सब, तिस पर भी यदि अन्तरमें यह प्रतीति जगेगी कि मेरा कुछ नहीं है। है नहीं कुछ इसका वास्तवमें और ऐसा अपना भाव बनेगा कि मेरा कुछ नहीं है। मेरा तो मैं ही यह अकेला हूं, ऐसा भाव बनेगा तो शांतिकी झलक

हो भी जायेगी और यदि अपने चित्त पर परिग्रहका बोझ ही बनाए रहे मेरे तो इतना है, मैं तो इतना हूं, मेरे तो ये सब ठाठ हैं, चाहे मुखसे न ऐसा कहें मगर भीतरमें प्रतीति रूप ऐसा भार बाह्य पदार्थोंका रहता है तो किसी भी क्षण रंच भी आनन्दकी झलक नहीं मिल सकती।

ज्ञानीकी कला— ज्ञानी पुरुषमें यह कला है कि किसी भी परिस्थिति में हो, जब अपने आपमें डुबकी लगाकर तका तो देख लिया जाता है कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं, मेरा कहीं कुछ नहीं है। यद्यपि सत्य जानकर भी प्राक् पदमें कुछ आत्मामें टिकाव नहीं रहता फिर भी इससे स्खलित होकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि डालकर फिर वही रहंटा चलाकर दुःखी होता है। हो जीव दुःखी, फिर भी जिसने कभी भी स्वाधीन आनन्दका अनुभव किया वह उसके स्मरणके प्रसादसे ही बहुतसी आकुलतावोंसे दूर रहता है।

कर्तव्य— अब करने योग्य कार्य क्या है—ज्ञान करना और बाह्य पदार्थोंका प्रसंग दूर करना। जितना हो सके अपने आपको संभालनेका काम था, अपने आपको संभालकर विरक्ति लेना था। यह पद्धति प्राचीन कालमें प्रायः थी, बिल्कुल सवत्र थी ऐसा तो नहीं कहा जा रहा है पर दो चार प्रतिशत थी। जो अच्छे कुलके थे, ज्ञानके अच्छे, विचारधाराके अच्छे उनके कालमें यह परम्परा बराबर चली जाती थी। कोई राजा है तो योग्य होनेपर युवराजको राज्य देकर आप विरक्त हो जाते थे। विवेक इसीको कहते हैं। मान लो लड़के बच्चोंके बीच खुद घरमें रहें तो न यहांके रहे, न वहांके रहे। जब घरमें बालक समर्थ हो जाता है और इस वृद्धकी कुछ चलती नहीं है तो वह न यहांका रहता है और न वहांका रहता है। तो विवेक करके सर्व समर्पित करके सर्व कुछ भार सौंप करके अपना जीवन केवल धर्मके लिए समझते थे। सो वहां शांतिके बहुतसे प्रसंग आते थे।

कर्ता और अकर्ताका निर्णय— जब तक यह जीव द्रव्यका परित्याग नहीं करता तब तक आकुलतावोंके भावोंका यह परित्याग नहीं कर सकता है और जब तक यह जीव रागादिक भावोंका त्याग नहीं करता तब तक रागादिकका कर्ता बना रहता है। जब यह जीव निमित्तभूत द्रव्यका परित्याग करता है तो इसके रागादिक भी शांत हो जाते हैं और तब यह जीव साक्षात् अकर्ता हो जाता है। आनन्द तो इसको उसका आता है जिस ओर इसकी दृष्टि लगी हो। यदि इस जीवकी दृष्टि विषय-विषमें लगी है तो विषय-विषकी दृष्टिका फल है आकुलता। सो आकुलता ही हाथ आती है। यदि इसकी दृष्टि केवल ज्ञानस्वभावमें अपने स्वरूपमें लगी है तो उसका फल है निराकुलता।

हितार्थीकी दृष्टि— इस हितार्थी पुरुषका दो तत्त्वोंपर लक्ष्य है—भगवत्स्वरूप और आत्मस्वरूप। तीसरेको किसको दिल देना, किसमें मन स्थापित करना? कौन वस्तु ऐसी है कि जिसमें चित्त देकर हम अपने को कृतार्थ पा सकें। ये सब बाह्य पदार्थ हैं और बाह्य होने के नाते दूसरों के लिए धोखास्वरूप हैं। ये बाह्य पदार्थ धोखा नहीं देते किन्तु ये बाह्य पदार्थ अपने ही स्वरूपमें रहते हैं, हम ही धोखा खाते हैं। मुझे धोखा देने वाला दूसरा नहीं है। हम ही कल्पना करके धोखा खाते हैं, सुख दुःख भोगते हैं। तो जिस क्षण हमें अपने आपका अनुभव होगा, एकत्वका अनुभव, अकेलेपनका अनुभव हो तब हमें शांति मिलेगी।

अपने एकत्वकी समझ— भैया! हम बहुत गहरी बात नहीं समझ सकते तो कमसे कम इतना तो जानते रहें कि मैं इस जगत्में मेरे लिए अकेला ही हूं, इतनी बात तो जानते रहें। यह बात तो साधारण पुरुष भी जानते हैं। कुछ पढ़े लिखे भी जान सकते हैं और उत्कृष्ट योगी पुरुष भी जान सकते हैं। मैं सर्वत्र अकेला हूं, इस बातको कौन नहीं जान सकता। भले ही कोई किसी हद तक अकेला जान सके, कोई और विशेष हद तक अकेला जान सके पर अपने आपको अकेला समझ सकनेमें कौनसी कठिनाई है? आंखों देखते हैं कि शरीरसे विमुक्त होनेके बाद लोग इस शरीरको जला डालते हैं। वह अकेला ही जलता है और लोग तो देखने वाले होते हैं।

व्यवहारमें भी अकेलापन— इस परस्परके व्यवहारमें भी देख लो, आपको जैसा कषाय उत्पन्न होता है उसके अनुसार आप कार्य करते हैं और जैसा हममें कषाय भाव उत्पन्न हुआ वैसा हम कार्य करते हैं। है क्या कोई ऐसा, जो अपनी प्रकृतिको छोड़कर दूसरेकी प्रकृतिमें मिल जाय? स्वरूप ही नहीं है ऐसा। तब फिर अकेला हुआ ना मैं, अकेले ही हुए ना आप और अन्दर चलिए। मेरा तो साथ यह मेरा राग परिणाम भी नहीं निभाता। जिस रागको बसाकर, परिणामको बढ़ा बढ़ाकर हम अपनेको समृद्ध मानते हैं वह राग भी तो हमारा साथ नहीं देता है, होता है और मिट जाता है। तो हुआ ना मैं अकेला। अपनी अपनी हदके अनुसार प्रत्येक पुरुष अपनेको अकेला अनुभव कर सकता है।

एकत्व और आकिञ्चन्यके दर्शनकी महिमा— आपको अकेला अनुभव करना और आकिंचन अनुभव करना—ये दो बातें तो मूलसे धर्म मार्गमें बढ़ाती हैं। इन्हें कौन नहीं कर सकता है? जैसे शामके समय जब गायें अपने घर आती हैं जंगलसे तो अपने बछड़ोंकी यादमें दौड़ती हुई

आती हैं। जो गाय लंगड़ी है, टांग टूटी है, छोटी पूछ है वह गाय अपनी कटी पूंछको ही घुमाती हुई दौड़ती हुई आती हैं और जिन गायोंकी टांग ठीक हैं, लम्बी पूछ है वे अपनी लम्बी पूँछको हिलाती हुई बड़ी तेजीसे दौड़ती हुई घर आती हैं। इसी प्रकार कल्याणार्थी पुरुष अपने एकत्वरूप, अकेलेरूप और अकिंचनस्वरूपको जान सकते हैं। जिसके जितना ज्ञान है उतने ज्ञानसे ही अपनेको अकेला समझेगा और अकिंचन जानेगा और जिसके साधारण ज्ञान है वह भी अपने को अकेला और अकिंचन जान सकता है। अपनेको जितना अकेला और अकिंचन तकोगे उतना ही आनन्द प्राप्त होगा और अपने को जितना दुकेला और मेरा कुछ है, इस प्रकारका बोझ लादोगे उतना ही इस अमूर्त ज्ञानस्वरूप आनन्दसे खिन्न रहोगे।

संकटके क्षयका उपाय— भैया! अपनेको अकेला और अकिंचन अनुभव करो। जब भी कोई क्लेश हो, परीक्षा करके देख लो। यदि अपने को अकेला और मेरा कहीं कुछ नहीं है ऐसा यदि देख सकते होंगे तो संकट अपने आप टल जायेंगे, क्योंकि संकट तो इसीका था कि यह मान रखा था कि मेरी चीज है, इस चीजका परिणमन इस प्रकार होना था। जैसा परिणमन परमें चाहता था वैसा नहीं हुआ, लो इसीसे खेद खिन्न हो गये थे। जब यह जाना कि मेरा कहीं कुछ नहीं है तो सारे क्लेश मिट गए। इस कारण अपने को सुखी रखनेके लिए खूब ध्यान लगा कर अपनेको अकेला और अकिंचन माननेका यत्न करना चाहिए।

अब द्रव्य और भावका निमित्तनैमित्तिक भाव है। इसका एक उदाहरण देते हैं।

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८५॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८६॥

निमित्तनैमित्तिकभावका एक उदाहरण— यहां यह बतला रहे हैं कि उपाधिरूप, द्रव्योंका, पदार्थोंका आत्माके विकार भावमें निमित्तपना है। जैसे पुद्गल द्रव्यके जो अधःकर्मादिक दोष होते हैं उनको ज्ञानी जीव कैसे करेगा क्योंकि वे सदा पुद्गलद्रव्यके गुण हैं और ये अधःकर्मादिक पुद्गलमय द्रव्य हैं, इसे ज्ञानी जानता है। ये सदा अनित्य हैं, ये मेरे किए हुए कैसे हो सकते हैं? आचार्यमहाराज कुन्दकुन्ददेव अपनी आध्यात्मिक शैलीसे सीधी बात यह कह रहे हैं कि जिन मुनियोंके आहारमें

अधःकर्म दोष होता है अर्थात् हिंसापूर्वक बिना अच्छी प्रकार सोधे जो आहार बनता है उसे अधः कर्म दोष कहते हैं। उस अधःकर्म दोषका करने वाला मुनि नहीं है। वह तो पुद्गलमय चीज है। लेकिन अधःकर्म दोष वाले या उद्दिष्ट दोष वाले आहारको ग्रहण करने पर मुनिके दोष ऋषि संत बताते हैं। यह निमित्तनैमित्तिक भावका ही तो उदाहरण है।

अधःकर्मदूषित आहारका निमित्तत्व— अधःकर्मका अर्थ यह है कि खोटी विधिसे आहार बनाया जिसमें हिंसाका बचाव नहीं हुआ, असंयमसे द्रव्योपार्जन किया, ऐसे ही अपवित्र भावोंसे बिना देखा भाला भोजन बनाया वह अधःकर्म है। सो अधःकर्म दोष और उद्दिष्ट दोष— ये पुद्गल-सम्बन्धी हैं पर जैसा भोजन करें तैसा भाव होता है, यह एक उदाहरणमें बात रखी है। इसी तरह द्रव्यको न त्यागने वाला मुनि द्रव्यके नैमित्तिक-भाव और बंधके साधक विकार भावोंका भी त्याग नहीं कर सकता।

अविकारी आत्मस्वभावकी दृष्टि— परद्रव्य निमित्त होते हैं, परके विकारमें, ऐसा सिद्ध क्यों किया जा रहा है? यह बतानेके लिए कि आत्मा में जो रागादिक भाव होते हैं उन रागादिक भावोंका करने वाला आत्मा नहीं है, वह निमित्त पाकर हो जाया करता है। यह शिक्षा इस प्रकरणसे मिलती है कि हे निज आत्मन्! तू अपने हितके अर्थ अपने आपके शुद्ध चैतन्यस्वरूपको देख। तुझमें तेरे ज्ञायकस्वभावसे अतिरिक्त स्वभावतः और कुछ तत्त्व नहीं है, विकार नहीं है। जो विकार तेरेमें प्रकट होते हैं उनमें परद्रव्य निमित्त हैं। यह बंधाधिकार है, बंधाधिकारमें यह समर्थन है कि आत्माका बंध कैसे दूर होता है? जितने भी ऋषी संतोंके उपदेश हैं उनका प्रयोजन यही है। आत्माकी अपने स्वभावपर दृष्टि जाय—इतने प्रयोजनके लिए ही सब नयोंका वर्णन है। नयोंका वर्णन नयोंको बतानेके लिए नहीं है, किन्तु उसका वर्णन आत्मस्वभाव पानेका उद्यम करनेके लिए है।

उपदेशका प्रयोजन आत्मस्वरूपकी दृष्टि कराना— जैसे कहीं यह कहा गया है कि आत्माके सुख दुःखको कोई दूसरा पैदा नहीं करता है उसका प्रयोजन यह है कि जीवोंकी जो यह दृष्टि लगी है परकी ओर कि मेरे सुख दुःखको अमुकने पैदा किया और इस दृष्टिके कारण विरोध और द्वेष जगता है वहां यह समझाया गया है कि देखो दूसरेके कुछ किए जाने पर सुख दुःख नियमसे ही हों, ऐसा तो कुछ है नहीं। दूसरे प्रयत्न करते हैं मेरे सुख अथवा दुःखके लिए किन्तु मेरा परिणमन बने तो बने और न बने तो कोई न भी बने। इस कारण दूसरा कोई तुझे सुख दुःख नहीं देता।

तू अपना स्वरूप संभाल। तेरे स्वरूपकी संभाल बिना ही कल्पनासे तेरेमें सुख दुःख उत्पन्न होते हैं। स्वभावके संभाले जाने पर कल्पनाको दूर किए जाने पर फिर ये लौकिक सुख और दुःख न रहेंगे। तू अपने स्वाधीन आनन्दको भोगता रहेगा।

अपवित्रताकी नैमित्तिकता-- यहां दृष्टांतमें साधुके आहारको रखा है। साधु यदि सदोष आहार करते हैं, सदोष आहार करनेके निमित्त से उनके भावोंमें अपवित्रता आती है। यह भावोंकी अपवित्रता देखो नैमित्तिक हुई या नहीं। इस दृष्टान्तको देकर यहां यह सिद्ध किया है कि तेरे में जो रागादिक भाव होते हैं वे नैमित्तिक भाव हैं, तेरे स्वभाव नहीं हैं। तू इन भावोंकी रुचि छोड़, इन परभावोंसे रहित अविकारस्वभावी आत्मतत्त्वको देख।

परका अकर्तृत्व-- इस दृष्टांतके वर्णनमें आगे यह कह रहे हैं कि जो अधःकर्मादिक पुद्गल द्रव्योंके दोष हैं उनको यह आत्मा नहीं करता, क्योंकि आत्माका कार्य नहीं है कि वह परद्रव्योंका परिणमन करे। परद्रव्योंके परिणमनमें परद्रव्योंका परिणमन कारण होता है। तब अधःकर्म और उद्दष्ट दोष ये तो पुद्गलद्रव्यभूत पुद्गलकी बात भी अचेतन है सो मेरा कार्य नहीं है। ऐसा तत्त्वज्ञान बनाकर उस पुद्गल कर्मका, उस निमित्तभूत आधारका जो त्यागकर देता है वह निमित्तभूत बंध भावोंसे भी दूर हो जाता है। इसी तरह जो ज्ञानीसंत समस्त परद्रव्योंका त्याग करते हैं वे उन परद्रव्योंके निमित्तसे होने वाले समस्त भावोंका त्याग करते है। इस तरह द्रव्यमें और भावमें निमित्तभूत सम्बन्ध है।

क्लेशमयी कल्पनायें-- देखो भैया! यह सारा विश्व अपनी कल्पनावश अपनी धुनमें चला जा रहा है। रागरहित ज्ञायकस्वभावमात्र अपने आपके स्वरूपका स्पर्श नहीं करता और कितना अंधेरेमें यह आत्मा दौड़ा चला जा रहा है। अपने आपके स्वरूपकी स्मृति नहीं करता और इस गहन अंधकारमें निरन्तर दुःखी रहता है। आत्माको दुःखका क्या काम, उद्दण्डता कर रहा है इसलिए दुःख हैं। बाह्य पदार्थ कुछ हमारे रंचमात्र लगते भी हैं क्या? घर वैभव लोक इज्जत, ये कुछ हमारे इस अमूर्त आत्मतत्त्वमें चिपटते हों, लगते हों ऐसी कुछ बात होती है क्या? ऐसी कुछ भी बात नहीं है पर जगतके मायामय मोही जीवोंपर दृष्टि देकर उनमें अपनी कुछ शान बनानेके लिए कितने रूपक बनाये जा रहे हैं?

रागपरिहरणका उद्यम-- भैया! काम कोई न आयेंगे न यह वैभव और न ये लग। कोई भी हमारा मददगार न होगा, पर देखो मोहकी

बुद्धि ऐसी पड़ गयी, इसकी बुद्धि ऐसी अपवित्र हो गयी कि अपने कषाय भावोंमें, अपने विकारभावोंमें ऐसा एकमेक बन रहा है कि अपने परिणामों से यह रागादिक भावोंको अलग नहीं कर सकता। जीवको विभावोंकी रुचिका इतना दृढ़ बंधन है कि छोड़ा नहीं जाता। कोई-कोई कहते कि मुझसे परिवार नहीं छोड़ा जाता है। अरे परिवार तो छूटा ही हुआ है। परिवारविषयक चित्तमें जो राग है वह राग नहीं छोड़ा जाता है। परविषयक राग छोड़ने के लिए कर्तव्य है कि इस आत्मस्वरूपको देखें। ये जो रागादिक औपाधिक भाव हैं वे बरबादीके ही कारण हैं। इनसे हित नहीं है।

निजप्रभुपर उपसर्ग-- भैया! रागादिक भावोंसे अपनेको निराला तक तो तेरा प्रभु तुझे मिलेगा, नहीं तो रागादिक परेशानियां तेरी दूर न होंगी। कैसा उपसर्ग है इस अपने आपके प्रभु पर? यह मन दौड़ा चला जाता है अहितकी बातोंमें। जिनमें कुछ भी सार नहीं है ऐसी कल्पनाएँ वे जकड़ लेते हैं कि उनमें असावधानी हो जाती है अथवा बेहोशी छा जाती है। इस बेहोशीको दूर करके अपने आपके सहजस्वरूपको निरखना है। आनन्द कहां बाहर ढूँढ़ना है? स्वयं तो आनन्दस्वरूप है।

मार्गप्रकाश-- इन ऋषी संतोंकी करुणाका बदला कौन दे सकता है? जिन ऋषी संतोंने अपनी साधना करके वस्तुस्वरूपको समझकर हम जैसे साधारण जनोंको ऐसे सुगमरूपमें रख दिया है कि हम भी कल्याण का मार्ग जानने लगें। सदाके लिए संकट मिटा देनेका उपाय बना देने वाले कितने उपकारी जीव होते हैं? उनकी महिमाको कौन कह सकता है? जरा इन्द्रियोंको संयत करके, मनको अपने आपके स्वभाव पर रोक करके अपने आपके ही स्वरूपको कुछ देखें तो वहीं यह अकेला, अकिञ्चन ऋद्धिसम्पन्न प्रभु अपने आपकी दृष्टिमें आयेगा और यह मैं केवल अपनी दृष्टिमें रहूं तो जगतके पदार्थों की चाहे कितनी भी खलबली मच रही हो पर यह क्षोभ नहीं आ सकता। यह क्षोभ आता है तो खुदकी कल्पनाके कारण आता है।

मोहकी उद्दण्डता-- भैया! यह कैसा नाच है? क्या सम्बन्ध है एकका दूसरेसे। हैं तो सभी जीव अत्यन्त न्यारे, सभी जीव अपने आपमें अपनी कल्पना मचाकर अपने आपका कार्य पूर्ण करने मात्रमें लगे हैं। इसके सिवाय कुछ हो नहीं रहा है किसी परका किसी परमें कुछ, लेकिन यह मोही जीव अपनी कल्पनामें सारे विश्वको चबा रहा है, निगलना चाहता है। सो चाह ही चाह है, होता कुछ नहीं है। तो मनको स्वच्छ

रखिये। क्लेश नहीं सहना है तो अपने आपको एकत्व स्वरूपमय देखिए केवल देखिए। इस बंधनसे निवृत्त होनेके लिए कुछ भावना भायें कि मैं शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप स्वभाव वाला हूं।

स्वरूपका ग्रहण— स्वरूप होता है पदार्थोंमें; पुद्गलमें रूप, रस आदिक होते हैं तो मेरेमें क्या स्वरूप मिलेगा? यह मूर्तिक चीज तो है नहीं जो टटोलनेमें आ जाय। यह आत्मा ज्ञानमात्र अमूर्त पदार्थ है। इस का समझना ज्ञान द्वारा होगा। इसका ग्रहण करना ज्ञानसे होगा और ज्ञानरूप विधिसे होगा और ज्ञानरूपमें ही होगा। दूसरी प्रकार इस आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। अपने आपको देखिये—यह तो सहज जानन वृत्ति रूप है, निर्विकल्प है, इसका विकल्प करना स्वभाव नहीं है। यह मैं सर्व परवस्तुवोंसे उदासीन हूं, प्रत्येक पदार्थ परसे उदासीन है। कोई वस्तु किसी दूसरे वस्तुसे लेनदेन नहीं रखता। जो निमित्तनैमित्तिक भावपूर्वक कार्य हो रहे हैं वे भी इस तरह हो रहे हैं जैसे कि परिणम सकने वाला उपादान अनुकूल निमित्तको पाकर स्वयंके प्रभावसे, स्वयंकी परिणतिसे विकाररूप परिणमता है। निमित्तभूत परद्रव्य इसमें विकार स्थापित नहीं करते हैं। यह उपादान स्वयं अनुकूल निमित्तको पाकर चूँकि ऐसी ही योग्यता वाला है सो अपना प्रभाव प्रकट कर लेता है।

सकलविविक्तता— एक द्रव्यका दूसरेसे लेनदेन कुछ नहीं हुआ पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, लेनदेन भी नहीं और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका अभाव भी नहीं। हम बोल रहे हैं, आप सुन रहे हैं इस स्थितिमें हमने आपसे क्या लिया और आपने मुझको क्या दिया? कुछ भी नहीं। आप अपने स्वरूपमें रहते हुए अपना परिणमन कर रहे हैं, हम अपने स्वरूप प्रदेशमें रहते हुए अपना परिणमन कर रहे हैं। निमित्तनैमित्तिक भाव तो हो गया कि आप मेरी बात सुननेके निमित्तसे अपनेमें किसी प्रकारकी ज्ञानधारा बना रहे हैं और आप लोगोंको सुननेके रुचिया जानकर हम अपनेमें अपनी चेष्टा कर रहे हैं फिर भी आपने हमें कुछ दिया हो या हमसे कुछ लिया हो तो बता दीजिए। आप भी अकेले सूनेके ही सूने हैं और हम भी अकेले सूनेके ही सूने हैं। जो मुझमें है वह मुझसे बाहर नहीं जाता, जो मुझमें नहीं है वह किसी दूसरे पदार्थसे नहीं आता।

धर्माश्रय— वस्तुका ऐसा स्वतंत्रस्वरूप जिन संतोंकी दृष्टिमें दृढ़तापूर्वक घर कर गया है, उन संतोंने इस संसारको पार कर लिया समझिए और जिन्हें इस वस्तुस्वतंत्रताकी खबर नहीं है उन जीवोंने अपने आपको

अंधेरास्वरूप बनाकर अपने आपको संसार गर्तमें डाल दिया। धर्मपालन के लिए बाहरके आडम्बर नहीं करना है। बाहरके आडम्बर और आलम्बन तो करने पड़ते हैं इस कारण विषय कषाय और शुभोपयोगमें जो रमता चला आया है उसको उस कठिनतासे अशुभोपयोगसे निकलनेका सुगम आलम्बन कुछ होना चाहिए। बाह्य आलम्बनके रहते हुए भी जितना अपने आपमें आपके स्वरूपका दर्शन और आलम्बन है उतना तो किया धर्मका पालन और शेष किया मंदकषायका अनुभवन और उससे होने वाली विशुद्धिसे हुआ एक तृप्तिका अनुभवन।

ज्ञानमार्ग— भाई यह मार्ग बड़ा उत्कृष्ट मार्ग है, यही ज्ञानका मार्ग है। भक्तिमार्गसे भी ऊँचा उत्कृष्ट जो मोक्षमार्गका अनन्तरपूर्व भाव है उस मार्गकी कथा चल रही है कि समग्रवस्तुवोंको केवल उन-उनके स्वरूपमें देखा जाता है। एक वस्तुका दूसरे वस्तुके साथ यदि सम्बन्धबुद्धिका भाव नहीं रहता है तो यह संकटोंसे छूट सकता है। इस जीव पर संकट हैं कहां? परवस्तुवोंसे, पर हैं अपनी जगह, तुम हो अपनी जगह। पर, परवस्तु-विषयक जो कल्पना बना ली है उस कल्पनासे दुःखी हो रहा है। बाहरमें चाहे अच्छा वातावरण हो पर तुम्हारी कल्पनामें यदि दुःखपूर्ण वातावरण छाया है तो तुम तो दुःखी ही हो। चाहे बाहरमें पड़ौसमें दुःखपूर्ण वातावरण हो किन्तु आप सुखपूर्ण भावोंसे भरे हों तो आपको कोई क्लेश नहीं है। हमने अपनी ज्ञानधाराको विपरीत मोड़ा सो दुःखी हैं और अपनी ज्ञानधाराको हम सही लक्ष्यमें मोड़ लें तो अभी भी हम सुखी हैं।

ममत्व दूर करनेका यत्न— मेरे सुख दुःखका देने वाला कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। मेरी ही कल्पनामें रागद्वेष मोहके भाव बन रहे हैं, ऐसा जानकर हे हितार्थी आत्मन्! तू अज्ञान अंधेरेको दूर कर। एक ही प्रयत्न कर कि वस्तुका अपने सत्वके कारण जैसा स्वरूप है उस स्वरूपमें ही अपनेको तू देख। ऐसे वस्तुस्वातंत्र्यका निरीक्षण तेरे लिए हितकारी होगा अन्य कुछ भी तुझे हितकर नहीं है। कुछ क्षण तो लोकप्रसंगोंसे हटकर अलौकिक उत्कृष्ट निज ज्ञानस्वभावमें तो स्थिर हो। इस अनादि अनन्त संसारमें कितनी सी जगह है जिसमें तू ममत्व कर रहा है। ये कितनेसे प्राणी हैं जिनमें तू ममता कर रहा है। यह कितनासा सम्बन्ध है जिसके लिए तू ममत्व कर रहा है। यहांके मरे कहीं राजू पर्यन्त पहुंच जावोगे फिर क्या रहेगा? तीन लोक और तीन कालका पूरा विस्तार देखना और उसका ध्यान करना, इसे धर्मध्यानका उत्कृष्ट ध्यान बताया है। इसका नाम है संस्थान विचय। तू दृष्टिपसार तीन लोकका विस्तार

देख। तीनों लोकका फैलाव देख तो तेरा मोह दूर होगा और मोहके दूर होनेसे तुझे अपने आपमें शांति प्राप्त होगी।

आहार और परिणाम— साधु जनोंके आहारके विषयमें किसी प्रकारकी चिंतना नहीं चलती। आहार सरस हो या नीरस हो, उसमें समान बुद्धि रहती है। उनका मान हो या अपमान हो उसमें भी उनकी समता रहती है। जब आहारविषयक कोई रागद्वेष नहीं है तब आहार ग्रहण करके भी आहारग्रहणका ज्ञानी संतोंके बंध नहीं होता। फिर भी आहारग्रहणसे पूर्व उस पात्रके ही निमित्तसे कोई भोजनादिक बनाया जाय तो वह उद्दिष्ट दोष है, साथ ही हिंसाका बचाव न करके वह बनाया हो तो अधःकर्म दोष है। यह दोष उस पुद्गलद्रव्यमें ही है, उसको साधुने नहीं किया, किन्तु उसको निमित्त पाकर साधु पुरुषके अयोग्य होनेके कारण विकल्प हुआ। वह बंधका कारण बनता है। सो वहां भी बंध हुआ साधुके परिणामके कारण और साधुके परिणाम बनानेमें निमित्त हुए वे बाह्य पुद्गल।

परकृत बन्धका अभाव— पुद्गलद्रव्यके परिणमनके कारण साधुके बंध नहीं हुआ। यदि परद्रव्योंके परिणमनके कारण बंध हो जाय तो फिर कभी मोक्ष ही नहीं हो सकता। इस प्रकार विचार करके अर्थात् परद्रव्यों और अपने परिणामोंका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है, ऐसा जानकर समस्त परद्रव्योंको अपने पुरुषार्थसे त्याग दें और फिर निमित्तको त्याग करके अपने विभावोंकी परिपाटीको भी दूर कर दें। ऐसी स्वच्छता होने पर धाराप्रवाह रूपसे अपने आत्मामें ज्ञान चलता है। अब ज्ञानसे युक्त अपना आत्मा अपने आत्माको परिणमा रहा है। इस शुद्ध वृत्तिके होनेपर जब कर्मबंधन उखड़ जाय तो यह ज्ञायकस्वरूप भगवान आत्मा अपने आपमें प्रकट होता है।

परसंगके त्यागका उपदेश— यहां यह उपदेश देते हैं कि हमारा भाव जो बिगड़ता है वह किसी परपदार्थके संगसे बिगड़ता है। यदि किसी परपदार्थका संग न हो तो फिर भाव कैसे बिगड़े? कोईसा भी बिगड़ा भाव ऐसा बताओ कि जिसमें किसी परवस्तुका ख्याल न किया गया हो और बिगाड़ हुआ हो। किसी भी प्रकारका पापका परिणाम हो। पापका परिणाम होगा तब ही जब किसी परपदार्थका ख्याल बनाए। तो हमारे बिगड़े भावोंमें निमित्त पड़ते हैं कोई परद्रव्य। इससे यह सिद्ध है कि मेरे भावोंका बिगाड़ मेरे स्वभावसे नहीं होता। वह बिगाड़ किसी परपदार्थके सम्बन्धका निमित्त पाकर होता है। तब क्या करना है? ऐसा जानकर

अपने विकार भावोंसे उपेक्षा रखना है। ये मेरे स्वभावसे नहीं उत्पन्न होते और फिर जैसा अपना सहज ज्ञायकस्वरूप है उस रूप ही अपनी दृष्टि करना, यही है बंधसे छूटनेका उपाय। इस उपायसे यह आत्मा अपने आपके आत्मस्वरूपमें विकसित हो जाता है!

कर्मबन्धका निमित्त विभाव परिणाम— भैया! जो हमारी परतंत्रताके कारण हैं वे कर्म हमने खुद ही तो बांधे। हमारे कर्मोंको कोई दूसरा नहीं बांधता है, हम ही खोटा परिणाम करके अपने कर्मोंको बांधते हैं और जब उन कर्मोंका उदय आता है तो फिर मलिन परिणाम होता है। हम वहां पर केवल अपना परिणाम ही खराब बनाते हैं, फिर बाह्यमें जो कुछ होना है वह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश स्वयं होता है। कितनी ही बाह्य परिस्थितियां हों वहां जो बंधन हुआ है वह हमारे राग परिणामसे हुआ है, बाहरी चीजोंसे बंधन नहीं हुआ है। देखो यह सारा विश्व कार्माण वर्गणावोंसे भरा हुआ है, फिर भी यह जीव कर्मोंसे बंधता है तो खुदका रागद्वेष मोह भाव होता है सो बँधता है। अनेक तरहकी क्रियाएँ इस जगतमें देखी जाती हैं, किन्तु जीवका जो बंधन होता है वह रागद्वेष मोह भावसे होता है।

परपदार्थमें विभावकी आश्रयभूतता— रागद्वेष मोह होता है दूसरे जीवोंका ख्याल करनेसे। जो कुछ भी विकल्प उठता है वह दूसरे जीवोंको कुछ जतानेके लिए उठता है। जैसे आप बड़ा मकान बनवाते, बड़ा धन जोड़ते, तो मकानके लिए मकान नहीं बनाते, धनके लिए धन नहीं जोड़ते किन्तु दूसरे लोग समझ जायें कि ये बड़े पुण्य वाले हैं ऐसा दूसरोंको समझानेके लिए ही लोग धन जोड़ते हैं। धनके लिए धन कोई नहीं जोड़ता। दूसरोंकी निगाहमें मैं महान् रहूं इसके लिए जोड़ते हैं अचेतन पदार्थ और फिर इससे भी अधिक गहरे मर्ममें जायें तो दूसरे जीवोंको खुश करने के लिए भी वास्तवमें चेष्टा नहीं होती किन्तु अपने आपमें जो रागभरी कल्पनाएँ हुई हैं उस रागको ही पुष्ट रखने के लिए चेष्टाएँ हुई हैं।

हितप्रेरक उपदेश— तब ऐसी स्थितिमें आचार्य महाराज उपदेश करते हैं कि देखो किसी जीवका किसी दूसरे जीवसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सब अपने-अपने प्रदेशके स्वामी हैं, हम दूसरे जीवका कुछ नहीं कर सकते। हम न किसी जीवको सुखी कर सकें और न दुःखी कर सकें, न उनका जीवन दे सकें और न उनका मरण कर सकें और इसी प्रकार दूसरे जीव भी कोई कुछ नहीं कर सकते। फिर इस जगतमें अपने इस पर्यायको

प्रसिद्ध करनेका, ख्याति करनेका क्यों भाव रखते हो? प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें है, परके स्वरूपसे रहित है, सूना है। यह सारा विश्व सूना है। विश्वका अर्थ है ६ जातिके द्रव्योंका समूह। उस समूहमें एक-एक द्रव्य सब आ गए। प्रत्येक द्रव्य दूसरे समस्त द्रव्योंसे पूर्णतया रहित है। किसी भी द्रव्यका प्रदेश गुण पर्याय कुछ भी किसी दूसरेमें नहीं है। इस दृष्टिसे देखो तो प्रत्येक द्रव्य सूने हैं, हम सूने हैं, आप सूने हैं, सब सूने हैं तो सारा विश्व शून्य है। फिर क्यों नहीं अपने ज्ञानानन्दस्वभावकी प्रतीति करते और सुखी रहते?

आत्मप्रभुपर विकल्पोंका प्रहार-- ये जो तरंग कल्पनाएँ उठती हैं, इस जगतमें जितने भी जो कुछ सुख दुःख, जन्म मरण आदि होते हैं वे उन जीवोंके अपने अपने उपार्जित कर्मोंके उदयसे होते हैं। किसीके कर्मों को कोई दूसरा नहीं दे सकता है और न हर सकता है। इस कारण व्यर्थ के विकल्प क्यों करो? मैं दूसरेको सुखी करता हूं, दुःखी करता हूं, ये व्यर्थके विकल्प हैं, क्योंकि तुम कुछ कर सकते नहीं और मान रहे हो, इस मान्यतासे तुम अपने आपकी आत्माकी हिंसा कर रहे हो। तुम्हारा जो प्रभुस्वरूप है, जिस ज्ञानके द्वारा समस्त लोकको, त्रिकालवर्ती पदार्थको एक साथ स्पष्ट जाना जा सकता है वह ज्ञान कुण्ठित हो रहा है, अविकसित है, यह प्रभुस्वरूप पर ही तो प्रहार है।

आत्महिंसा— इस प्रभुमें ऐसा अलौकिक अनुपम आनन्द है कि जिस आनन्दमें न कोई पराधीनता है, न कोई इसका विच्छेद है, न इसमें घटाबढ़ी है। उत्कृष्ट आनन्द इन जीवोंमें है किन्तु अपने यथार्थस्वरूपको न जाननेसे बाह्य पदार्थोंमें ऐसी बुद्धि होने से यह जीव दुःखी हो रहा है, अपने आनन्दभावका घात कर रहा है। यही तो है हिंसा। तुम अज्ञान करके, विभाव करके अपनी हिंसा करते चले जा रहे हो।

स्वके भावसे स्वकी सृष्टि— देखो भैया! जो कुछ तुम बनते जा रहे हो सो अपने परिणामोंसे बनते जा रहे हो। जैसे सांप लम्बा पड़ा रहे, गोल बन जाय, टेढ़ा बन जाय, जैसा चाहे वह अपने को अपने बल से बनाता है, इसी तरह हे आत्मन्! तुम अपनेको अपने बलसे जैसा चाहे बनाते चले जा रहे हो। नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य देव इन गतियों रूप अपने को बना रहे हो, सो भी तुम अपने परिणामोंसे बना रहे हो। संसार भावों से हटकर मोक्षके मार्गमें लग रहे हो सो भी अपने परिणामोंसे लग रहे हो। अपनेको मुक्त बनावोगे तो अपने परिणामसे बनावोगे, अतः परवस्तुका कुछ मुझे बंधन है ऐसे मिथ्या विकल्पको छोड़ो।

व्यवहारका विरोध न करके निश्चयका आलंबन— निश्चयकी दृष्टिका आलम्बन एक अमृत तत्त्व कहा गया है, परन्तु व्यावहारिकतामें कार्य कारण भाव भी है, इसका विरोध न करके निश्चयका आलम्बन अमृतपान कहा गया है। इस निश्चयदृष्टिमें केवल एक अपना आत्मा देखा जा रहा है। बुरा बन रहा है तो अपना आत्मा देखा जा रहा है, भला बनता है तो अपना आत्मा देखा जा रहा है। जहां केवल अपना आत्मा ही देखा जाता हो अन्य द्रव्योंपर दृष्टि न हो तो यह कब तक बुरा बनेगा? इसका बुरापन शीघ्र ही नष्ट होगा। ऐसा उपदेश देकर आचार्य देवने समस्त परद्रव्योंका आश्रय छुड़ाया है। कर्मबंध होता है तो किसी परद्रव्यमें ख्याल करके होता है। कर्मबंध न करना हो तो परद्रव्योंका सहारा छोड़ दो। जब केवल स्वके आधीन स्वका उपयोग रहेगा तो कर्मबंध रुक जायेगा।

व्यवहारपूर्वक व्यवहारका प्रतिषेध— व्यवहार तो प्रतिषेधके लिए है, परन्तु सविधि व्यवहारपूर्वक व्यवहारका प्रतिषेध होना है। यदि विधिपूर्वक व्यवहार नहीं है तो ऐसे व्यवहारसे हटे हुए जीवोंका कल्याण नहीं है और व्यवहार धर्म भी खूब किया जा रहा है और अपने आपके ज्ञानस्वरूपका परिचय नहीं है तो कितने ही व्रतादिक किए जायें, उससे मोक्षकी सिद्धि नहीं होती। अपने कल्याणके लिए करना क्या है? इंद्रियोंको संयत करें, आखोंको बंद करें और अंतरमें मनके द्वारा परपदार्थोंका विकल्प न करें तो ऐसी स्थितिमें मनको परमविश्राम मिलता है और उस परमविश्रामके कारण अपने आपही अपने आप उस ज्ञानज्योतिका अनुभव होता है। जहां केवल अपना ज्ञायकस्वरूप ही अनुभवमें आए तब इसको उत्कृष्ट स्वानुभव होता है।

स्वानुभवकी उत्कृष्टता और उसका उपाय— स्वानुभव ही जगतमें उत्कृष्ट तत्त्व है। जितनी आत्मसिद्धि होती है वह स्वानुभवके प्रसादसे होती है। जिनके स्वानुभव हुआ है उन्हें अपने आपको अभेदरूपसे जाननेसे होता है। जिन्होंने अपने आपको अभेदरूपसे जाना है उन्होंने अपने अभेदस्वरूपका परिचय पानेसे जाना है। अपने स्वरूपका परिचय जिन्हें हुआ है उन्होंने अपने और परके यथार्थस्वरूपको पहिचाना है। अर्थात् सब भेदविज्ञानकी महिमा है। भेदविज्ञान होता है यथार्थ निर्णय करनेसे। जैसा वह पदार्थ है, जिस गुणमें तन्मय है, उन-उन रूप उन पदार्थोंके परिचयसे भेदविज्ञान होता है। यदि यह ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने ज्ञानमें है तो मोक्षमार्ग है और यदि ज्ञानका सहारा नहीं है तो वचनोंसे जीवादिक

पदार्थोंका नाम लेते जाएँ और अनेक शास्त्रोंका ज्ञान करते जाएँ और दया वृत्ति समिति इनका खूब पालन करते जाएँ तब भी इन जीवोंको शांति नहीं आ सकती है, मोक्षमार्ग नहीं मिलता है। यह शांतिका परमार्थभूत उपाय ही उपादेय है। इसके उपायके लिए बड़े-बड़े राजा महाराजा चक्रवर्तियों ने पाये हुए सर्व विभावोंका त्याग किया और आध्यात्मिक मार्गमें अपना उपयोग लगाया।

ज्ञानवृत्तिसे रहनेका उपदेश-- भैया! इन अंतिम दो गाथावोंमें यह सिद्ध किया है कि देख तेरा पवित्र ज्ञानानन्दस्वभाव है। तेरेमें विकार आना स्वभावका कार्य नहीं है। ये विकार परद्रव्य उपाधिका निमित्त पाकर हुआ करते हैं। तू अपनेको किसी विकाररूप मत अनुभव कर। तू शुद्ध ज्ञानमात्र ही अपना स्वरूप मान और केवल जानन ही, ज्ञाताद्रष्टा रहना ही अपना कार्य मान। यदि इस प्रकार अपने विभक्त एकत्व स्वरूपमें अपने उपयोगको लगायेंगे तो कर्मबंध कटेंगे, मोक्षमार्ग मिलेगा, शांति समृद्धिकी वृद्धि होगी। केवल एक यह ही मुख्य उपदेश जैन सिद्धान्तका है कि अपनेको सबसे न्यारा अमूर्त ज्ञायकस्वरूप अनुभव करो। धर्मकी यही जड़ है। यदि अपने को ज्ञानस्वरूप न अनुभव सके तो मन, वचन, कायके कितने भी श्रम कर डालें उनसे शांति न मिलेगी। जिस कार्यके करनेका जो उपाय है वह कार्य उस उपायसे ही सिद्ध होता है।

अमुक्त और मुक्त होनेका उपाय- समाधिशतकमें स्पष्ट बता दिया है कि हे आत्मन्! तुझे यदि देह पाते रहना ही पसंद है तो उसका उपाय यही है कि तू देहको यह मैं हूं ऐसा मानता जा, तुझे देह मिलते ही रहेंगे। अर्थात् तुझे जन्ममरण करना ही पसंद है तो उसका उपाय केवल यह ही है कि तू अपनेको शरीररूप मानता जा और यदि तुझे जन्ममरण पसंद नहीं हैं अर्थात् नये-नये देह पाना पसंद नहीं है तो तू अपनेको देहरूप न मानकर सबसे अत्यन्त भिन्न स्वरूप वाला ज्ञानमात्र अपनेको मान क्योंकि जिससे हमारी उपेक्षा होगी उसका वियोग हो ही जायेगा। जैसे हम अपने जीवन व्यवहारमें जिस मित्रसे उपेक्षा करके रहते हैं वह मित्र मेरे साथ लग नहीं सकता। हम उपेक्षा किए जायें और कोई दूसरा मेरेसे जुटा लगा रहे, यह तो न होगा। इसी तरह हम देहसे उपेक्षा करें, देहसे सर्वथा अपनेको भिन्न मानें, केवल ज्ञानस्वरूप अपने आत्माकी दृष्टि रखें तो यह देह कब तक मेरे साथ लगेगा?

आत्माश्रयका प्रताप— भैया! इस एकत्व निश्चयगत आत्मतत्त्व की आराधनाके प्रतापसे ऐसी विशुद्धि बढ़ेगी, ऐसा विकास चलेगा कि

इस उत्कृष्ट परिणामोंसे बढ़कर इन कर्मोंसे दूर हो जायेंगे और केवल ज्ञानघन आनन्दमय मैं आत्मा रहूंगा। तो मूलमें यह उपाय सर्व प्रथम करना है कि तू देहसे भी अपनेको निराला जान। जिसने देहसे न्यारा अपने आत्मस्वरूपको जाना उसने परिवार, रिश्तेदार, मित्रजन, सबसे न्यारा अपने आपको समझ ही लिया। जहां मोह सम्बन्धित चैतन्यपदार्थ से अपनेको न्यारा परख लिया वहां पर विकार भावके आश्रयभूत जड़ अचेतन पदार्थोंसे न्यारा तो जान ही लिया। अपनेको सबसे न्यारा विकारसे भी न्यारा ज्ञानानन्दस्वरूप देखो तो इस देहसे उपेक्षा हो जानेके कारण यह देह फिर तेरेसे चिपटेगा नहीं। भले ही पूर्व संस्कार और कर्म बंधनके कारण अल्पभव शेष रहें, किन्तु वे गुजरनेके लिए ही आते हैं बढ़ानेके लिए नहीं आते।

इस बंधाधिकारमें सारभूत उपदेश यह किया है कि तू संसारके दुःखोंसे छूटना चाहता है, इन कर्मबंधनोंसे हटना चाहता है तो स्नेहको तज और सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूपको देख। अहा ! तब यह ज्ञान-ज्योति ऐसी सुसज्जित है और समर्थ है कि रागादिकोंके उदयको मानों अदय होकर विदारण करती हुई रागादिकके कार्यको अर्थात् कर्मबन्धको तत्काल दूर कर देती है। जब अज्ञान अन्धकार दूर हो गया तब इस ज्ञान-प्रकाशका असीम प्रकाश विस्तृत हो जाता है।

इस प्रकार इस उदात्त ज्ञानपात्रके प्रतापोदयके कारण यह बन्धभाव निष्क्रान्त हो जाता है।

❀ इति समयसार प्रवचन एकादशतम भाग समाप्त ❀

मुद्रक—खेमचन्द जैन, जैन साहित्य प्रेस, १८४९ रणजीतपुरी, सदर मेरठ।